ISSN : 2231-0509
वर्ष 23/अंक 1/जनवरी-फरवरी, 2021

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका
वर्ष 23/अंक 1/जनवरी-फरवरी, 2021

संपादक रोहित धनकर
प्रबंधक रीना दास
कला पक्ष रामकिशन अडिग
कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क
शिक्षा विमर्श
दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,
जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
फोन : (0141) 2750310
मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)
ई मेलः shikshavimarsh@digantar.org
वेबसाइटः www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	**300**	**450**
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए प्रतिवर्ष 100 रुपये अतिरिक्त भिजवाएं)

ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय 4

विश्लेषण
सार्वजनीन स्कूलीकरण और समानता
उत्तर-कल्याणकारी राज्य में शिक्षा का अधिकार 6
❑ कृष्ण कुमार

गणित का शिक्षणशास्त्र
गणित शिक्षण भाग-IV
संख्याएं-गिनना 13
❑ रवि कांत

लेख
सोचना, याद करना, समझना और सीखना 19
भाग-II
❑ राजेश कुमार

कोरोना के बहाने
सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली पर गहराता संकट 24
❑ राम सिंह हापावत

आत्मकथा
शिक्षक-आंदोलन और सामाजिक सक्रियता के अन्य पड़ाव
भाग-I 29
❑ श्याम नारायण मिश्र

परिदृश्य
आजाद भारत में नयी तालीम का प्रयोग 39
❑ ऋषभ कुमार मिश्र

बाल-साहित्य समीक्षा
आशा के स्रोतों की तलाश 44
❑ पल्लव

मुख्य आवरण चित्र : प्रसिद्ध रूसी चित्रकार लियोन जरनित्स्की जिन्हें शिक्षा और पुस्तकों के चित्रों के लिए अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली।

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

पाठकों के लिए सूचना

प्रिय पाठको!
नमस्कार।

जैसाकि आपको मालूम है कि Covid19 महामारी ने हमारे जीवन को काफी प्रभावित किया है। इस महामारी के कारण एवं अन्य समस्याओं के चलते जुलाई-अगस्त, 2019 अंक के बाद शिक्षा विमर्श का प्रकाशन करना हमारे लिए संभव नहीं हो पाया। अब हम आपके अच्छे स्वास्थ्य की कामना के साथ एक लम्बे अन्तराल के बाद शिक्षा विमर्श का प्रकाशन पुनः आरम्भ करते हुए यह नवीनतम अंक जनवरी-फरवरी, 2021 आपको भिजवा रहे हैं।

हमारे लिए शिक्षा विमर्श के पाठक के रूप में आपका सहयोग महत्वपूर्ण रहा है। अतः आपको जानकारी देना चाहते हैं कि इस अन्तराल के कारण आपकी सदस्यता राशि में से जितने अंक शेष रह गये हैं, उतने इस अंक से शुरू करके भिजवा रहे हैं।

सादर धन्यवाद।

संपादक

संपादकीय

कोविड-19 महामारी ने विश्वभर में जन-जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया है। जन-जीवन के अलग-अलग दायरे तो अब इस महामारी से उबरते हुए दिख रहे हैं लेकिन स्कूली शिक्षा अभी भी अनिश्चितता से जूझ रही है। जहां एक ओर विद्यार्थियों, अभिभावकों, शिक्षकों और शिक्षा अधिकारियों में विद्यार्थियों के सीखने की 'हानि' को लेकर गंभीर चिंता है, वहीं स्कूलों को दुबारा खोलने से संक्रमण के फैलने का डर भी है। इन हालातों में शिक्षा तकनिकी का व्यवसाय करने वाली कम्पनियों को अपनी पैठ बनाने का एक अवसर मिला और 'ऑनलाइन शिक्षण व विद्यालयी शिक्षा का डिजिटल मोड' भी एक विकल्प के रूप में जरूर उभरा लेकिन अभी इसकी प्रभाविकता की शैक्षिक-समीक्षा व्यापक स्तर पर होना बाकी है। इस अंक में राम सिंह हापावत अपने लेख 'कोरोना के बहाने' में एक शिक्षा-कार्यकर्ता के दृष्टिकोण से इसकी प्रभाविकता की समीक्षा की कोशिश करते हैं। उनका यह लेख विभिन्न स्रोतों से जुटाए गए आंकड़ों और तथ्यों के विश्लेषण के जरिये एक नैरेटिव गढ़ने की कोशिश करता है। इन तथ्यों और आंकड़ों को जोड़कर देखने से पता चलता है कि कैसे डिजिटल माध्यमों की एक असमान उपलब्धतता वास्तव में सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शामिल होने के अवसरों और सामग्री तक पहुंच की एक असमान व्यवस्था का निर्माण कर रही है। जहां कहीं इनकी उपलब्धतता और पहुंच को सुनिश्चित भी किया जा रहा है वहां इनमें निहित शिक्षण-शास्त्रीय खामियों की समालोचना यह लेख प्रस्तुत करता है।

इस अंक के अन्य तीन लेख पिछली चली आ रही लेख-शृंखलाओं का ही हिस्सा हैं। कृष्ण कुमार द्वारा लिखित 'सार्वजनीन स्कूलीकरण और समानता' और राजेश कुमार द्वारा 'सोचना, याद करना, समझना और सीखना' अपनी-अपनी शृंखलाओं के अंतिम लेख हैं। रवि कांत द्वारा लिखित लेख भी पहले से जारी शृंखला 'गणित शिक्षण' का हिस्सा है हालांकि यह शृंखला आगामी अंकों तक अभी और जारी रहेगी। इस अंक में इसका चौथा भाग 'गिनना' पर केन्द्रित है। वहीं दूसरी ओर एक नयी लेख-शृंखला इस अंक से शुरू होने जा रही है। यह शृंखला दरअसल श्याम नारायण मिश्र की आत्मकथा 'अध्यापकीय जीवन का गुणनफल' के कुछ अंशों को प्रस्तुत करती है। श्याम नारायण मिश्र एक सरकारी अध्यापक और प्रधानाचार्य रहे हैं। 60 से 90 के दशकों में बिहार के विभिन्न स्कूलों में रहते हुए अनेकों ऐतिहासिक घटनाओं के न केवल वे प्रत्यक्षदर्शी रहे बल्कि इनमें व्यक्तिगत स्तर पर भागीदार भी बने। उनकी आत्मकथा के प्रस्तुत अंश के जरिये हम भारतीय स्कूलों के सरकारीकरण की जद्दोजहद और शिक्षक-संघों के आन्दोलनों की इसमें भूमिका से अवगत होंगे। हमें यह भी देखने का मौका मिलेगा कि कैसे आजादी के बाद एक शिक्षक की हैसियत और सीखने-सिखाने के माहौल में कुछ बुनियादी बदलाव आए। श्याम नारायण मिश्र की आत्मकथा का प्रकाशन अपने-आप में एक अहम् घटना है। सरकारी शिक्षक, शिक्षा-व्यवस्था का एक केन्द्रीय हितधारक होने के बावजूद आम तौर पर शैक्षिक विमर्शों और इनके तहत चलने वाली ज्ञान-सृजन की प्रक्रियाओं में हमेशा हाशिये पर ही रहे हैं। ऐसे में यह आत्मकथा खास हो जाती है, अंधेरे में एक प्रकाश कण-सी, जो आजादी के बाद स्कूली जीवन और एक शिक्षक के जीवन में घट रही अनेकों ऐतिहासिक परिघटनाओं पर रौशनी डालती है।

दो पुस्तक समीक्षाएं इस अंक में शामिल की जा रही हैं। पहली पुस्तक समीक्षा तो दरअसल गांधी जयंती के 150वें वर्ष के संदर्भ को ध्यान में रखकर लिखी गई है। ऋषभ कुमार मिश्र का लेख 'आजाद भारत में नयी तालीम का प्रयोग' चितरंजन दास द्वारा लिखित किताब 'लेटर्स फ्रॉम अ फॉरेस्ट स्कूल' की समीक्षा है। यह गांधी के 'शैक्षिक चिंतन और दर्शन' की ओर हमारा ध्यान खींचती है और उन प्रस्थान-बिन्दुओं को प्रस्तुत करने की कोशिश करती है जो उस वक्त के शैक्षिक चिंतन और दर्शन से इसे अलग करते हैं, साथ ही आज इनकी प्रासंगिकता को भी उकेरती है। दूसरी पुस्तक समीक्षा पल्लव द्वारा लिखी गयी है- 'आशा के स्रोतों की तलाश'। अपनी इस समीक्षा में पल्लव बाल साहित्य प्रकाशन में हाल के कुछ नए प्रयोगों की पड़ताल कर रहे हैं। एकलव्य और इकतारा जैसे संस्थानों के हाल में हुए कुछ नए प्रकाशनों में क्या आश्वस्त करता है और क्या नहीं इस समीक्षा के केन्द्रीय सवाल हैं।

इस अंक के साथ हम एक बार फिर शिक्षा-विमर्श के प्रकाशन को सुचारु रूप से शुरू कर रहे हैं। कोविड-19 महामारी एवं अन्य समस्याओं के चलते इसके प्रकाशन में आये व्यवधान का हमें खेद है। इस बीच हमें आपका सहयोग मिला और आपने धैर्य के साथ इसके दोबारा प्रकाशित होने का इंतजार किया, इसके लिए हम आपके आभारी हैं।

सभी के स्वास्थ्य और सुरक्षा की कामना के साथ! ◆

आप मंगवा सकते हैं
शिक्षा विमर्श के कुछ विशेषांक

बाल-साहित्य विशेषांक

मूल्य : 100 रुपये
कुल पृष्ठ : 196 (कवर सहित)

इतिहास शिक्षण विशेषांक

मूल्य : 50 रुपये
कुल पृष्ठ : 76 (कवर सहित)

शिक्षा का समाजशास्त्र-I विशेषांक

मूल्य : 60 रुपये
कुल पृष्ठ : 64 (कवर सहित)

अध्यापक विशेषांक

मूल्य : 150 रुपये
कुल पृष्ठ : 144 (कवर सहित)

राजनीति का शिक्षणशास्त्र विशेषांक

मूल्य : 175 रुपये
कुल पृष्ठ : 210 (कवर सहित)

शैक्षिक मूल्यांकन विशेषांक

मूल्य : 200 रुपये
कुल पृष्ठ : 148 (कवर सहित)

उपरोक्त विशेषांकों के अलावा आप शिक्षा विमर्श के अब तक प्रकाशित अंकों का पूरा सैट भी मंगवा सकते हैं।
नोट : डाक द्वारा मंगवाने पर पोस्टेज खर्च के लिए 20 प्रतिशत राशि अतिरिक्त जोड़ें।

खरीदने के लिए संपर्क करें : शिक्षा विमर्श, दिगन्तर, खोनागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
ईमेल : shikshavimarsh@digantar.org | khyaliram.digantar.org

सार्वजनीन स्कूलीकरण और समानता*

उत्तर-कल्याणकारी राज्य में शिक्षा का अधिकार

कृष्ण कुमार

भाषान्तर : जनित जैन

शिक्षक प्रशिक्षण व उच्च-शिक्षा

चलिए अब प्रारम्भिक स्कूलीकरण व उच्च-शिक्षा के रिश्ते की बात की जाए। इस रिश्ते को शिक्षक प्रशिक्षण में देखा जा सकता है, शिक्षकों को एक औपचारिक प्रशिक्षण के जरिये तैयार करना भारत में कई मुश्किलों को जन्म देता रहा है। इसमें से कुछ मुश्किलों का आरटीई में मौजूद अपेक्षाओं के संदर्भ में विश्लेषण करते हैं। आरटीई कानून एक ऐसे समय में आया है जब भारत एक तरफ आर्थिक नीति के कल्याणकारी राज्य द्वारा नियंत्रित विरासत और दूसरी तरफ नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के बाजार द्वारा संचालित मॉडल के अनुरूप चलने के दवाबों के बीच की खींचतान से जद्दोजहद कर रहा है। ये खींचतान आरटीई के बनने और अमल में आने से कोई एक दशक से भी पहले शिक्षक प्रशिक्षण में दिखाई देने लगी थी, शिक्षक प्रशिक्षण के क्षेत्र में एक बड़ा बदलाव 1990 के दशक के मध्य में दिखाई दिया जबकि राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद (NCTE) को एक वैधानिक नियामक संगठन का दर्जा हासिल हो गया। इसकी शक्तियां 1995 में पारित एनसीटीई कानून द्वारा निर्धारित कर दी गईं। इनमें शिक्षक प्रशिक्षण प्रदान करने वाले संस्थानों को लाइसेंस देना, शिक्षाक्रम व संस्थानिक मानदंडों को तय करना, और शिक्षकों की भर्ती के लिए योग्यता निर्धारित करना शामिल था। यह जाहिर तौर पर एक बहुत बड़ा शासकीय कदम था।

भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश जे एस वर्मा की अध्यक्षता में सुप्रीम कोर्ट द्वारा नियुक्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा कि एनसीटीई इस शासनादेश की पूर्ति नहीं कर सका बल्कि, यह व्यावसायिक हितों व प्रकार्यात्मक बाधाओं का शिकार बन गया जिसने प्रशिक्षण के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर विकृतियों और भ्रष्टाचार को पोषित किया (एमएचआरडी 2012)। अपने विश्लेषण व सुझावों को रखते वक्त आयोग द्वारा प्रस्तुत सघन दस्तावेजीकरण पर नजर डालते हुए हम यह कह सकते हैं कि शिक्षक प्रशिक्षण भारतीय शिक्षा व्यवस्था में काफी जटिलताओं से भरा क्षेत्र रहा है।

पुरानी बाधाओं से निजात मिली नहीं और कुछ नई चुनौतियों ने इसे दबोच लिया जो दरअसल सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य से सामने आईं। पुरानी बाधाओं में शामिल था संस्थाओं व पाठ्यक्रमों की अकादमिक दीनता, उनका उच्च-शिक्षा व शोध के संस्थानों से दुराव, और प्राथमिक व माध्यमिक कक्षाओं के प्रशिक्षण के बीच एक गहरी खाई। औपनिवेशिक दौर में इन विशेषताओं ने शिक्षक प्रशिक्षण को एक काफी यांत्रिक चरित्र प्रदान किया। आजादी के बाद इस क्षेत्र में हुआ विकास स्कूली शिक्षण में व्यवहारवाद के वैश्विक असर से अछूता नहीं रहा और शिक्षण प्रशिक्षण के यांत्रिक धारा में और भी तेजी आई। आधुनिकीकरण ने एक स्व-आश्वस्त यंत्रवाद का रूप ले लिया जिसे पाठ्यपुस्तक-परीक्षा संस्कृति के रूप में, जिसका कि इस पर्चे में पहले जिक्र

* यह आलेख पूर्व अंक जुलाई-अगस्त, 2019 में प्रकाशित आलेख का शेष हिस्सा है।

किया गया है, एक उपजाऊ जमीन तैयार मिली। 'शिक्षक प्रशिक्षण' शब्द को 'शिक्षक शिक्षा' शब्द से बदलकर एनसीटीई ने इस क्षेत्र के अकादमीकरण के अपने इरादे जाहिर करने की कोशिश की। लेकिन, जब एनसीटीई ने अपनी वैधानिक शक्तियों का इस्तेमाल करते हुए एक नियामक दायित्व निभाना प्रारम्भ किया, पुरानी बाधाओं में तेजी से नई बाधाएं भी जुड़ती चली गईं।

शिक्षक प्रशिक्षण के समक्ष मुख्य तौर पर तीन नईं चुनौतियां हैंः व्यवसायीकरण या बेलगाम निजीकरण, शिक्षण संस्थानों व स्कूलों में तकनीक द्वारा संचालित नव-व्यवहारवादी प्रभाव, तथा उच्च-शिक्षा का कमजोर होना जिसका असर शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेने वालों की गुणवत्ता पर पड़ता है। इनमें से सबसे पहली, यानि व्यवसायीकरण की चुनौती से निजात पाना सबसे मुश्किल रहा है। शिक्षक प्रशिक्षण का एक निजी महाविद्यालय खोलना इंजीनियरिंग व मेडिकल कॉलेज की तुलना में हमेशा अधिक आकर्षक रहा है क्योंकि, कम लागत में ही ऊंचा मुनाफा कमाया जा सकता है। छोटे व मंझोले उद्यमियों, जिनमें राजनीतिज्ञ भी शामिल हैं, के लिए शिक्षक प्रशिक्षण लाभप्रद क्षेत्र है। एनसीटीई की इस बड़ी संख्या में मौजूद निजी संस्थानों पर अपने नियम-कायदे थोपकर तथा अपने निरीक्षण दल को भेजकर इनका पालन सुनिश्चित करवाने की कोशिश भी अपने मकसद में नाकामयाब रही बल्कि, इसी पर उलटी आ पड़ी, जैसा कि वर्मा आयोग ने इंगित किया। 'अनुपस्थित' छात्रों तथा कम वेतनभोगी अध्यापकों के मसले ने भी पिछले सालों में कई विचित्र रूप धारण कर लिए। एनसीटीई ने हाल ही में माध्यमिक स्तर के शिक्षा स्नातक (बी.एड.) पाठ्यक्रमों के पाठ्यक्रम की मात्रा व अवधि को दोगुना कर दिया। बी.एड. व्यापार में सक्रिय कोई 2000 निजी संस्थानों को इस दो-वर्षीय प्रारूप के चलते शुरू में मांग में कमी झेलनी पड़ी लेकिन, फिर भी सामान्यतया अवधि दोगुनी हो जाने का मतलब था कि शुल्क के माध्यम से ज्यादा मुनाफा होना। प्रारम्भिक स्तर पर दो मुख्य कोर्स हैं, प्रारम्भिक शिक्षा में दो-वर्षीय डिप्लोमा (डी.एल.एड.) तथा चार-वर्षीय प्रारम्भिक शिक्षा स्नातक (बी.एल.एड.), एक कम प्रचलित, व नवाचारी कार्यक्रम जो 1990 के दशक में दिल्ली विश्वविद्यालय में स्थापित किया गया। इस दूसरे कार्यक्रम का अधिक विस्तार नहीं हो सका क्योंकि, इससे निकलने के बाद भी स्कूली व्यवस्था में उतनी ही आय और ओहदा हासिल होता था जो कि छोटी अवधि के कोर्स डी.एल.एड. से हासिल होता। लेकिन डी.एल.एड. कोर्स का हाल भी भारत में फैले सैंकड़ों संस्थानों में वही हुआ जो कि बी.एड. का हुआ था- दिखावटी संसाधन व ढांचा, और अनुपस्थित छात्र। गौर कर सकते हैं कि केवल महाराष्ट्र में मौजूद भारी संख्या में घटिया डी.एल.एड. संस्थानों के खिलाफ एक याचिका के जवाब में सुप्रीम कोर्ट द्वारा वर्मा आयोग का गठन किया गया। वर्मा आयोग ने इसकी ठीक से जांच की और पाया की सभी आरोप सही थे, इसने महाराष्ट्र के सभी ऐसे संस्थानों को बंद करने के आदेश दिए और साथ ही पूरे देश के मद्देनजर बहुत से दूरदृष्टिपूर्ण सुझाव दिए। कई प्रशंसनीय कदम उठाये गए, लेकिन कुछ ही वर्षों में, व्यापक, खास तौर पर अकादमिक सुधार के मुद्दे, ज्यादा चौकस तरीके से नियमों को पालन करवाने की कवायद के पीछे दब गए। एनसीटीई द्वारा तैयार की गई नई निर्देशिका तथा पाठ्यक्रम का ढांचा हतोत्साहित करने वाले सांस्कृतिक तौर-तरीकों से उपजी उस मूल समस्या को नहीं छू पाए जिसका जिक्र गुप्ता (2018) ने काफी गहनता व विस्तार से किया है।

शिक्षणशास्त्र का बाजार

एक नई समस्या जिसका सामना शिक्षक प्रशिक्षण को करना पड़ता है, वह है सीखने व उससे जुड़े हुए सिद्धांतों पर नव-व्यवहारवादी विचारों का बढ़ता हुआ प्रभाव। ये विचार स्कूल व संस्थानों में नयी संस्कृति और तौर-तरीकों को जन्म दे रहे हैं और उन्हें उस दिशा में खींच रहे हैं जो आरटीई में स्पष्ट तौर पर और दृढ़ता से वर्णित विचारों के तीक्ष्ण विरोध में हैं। शैक्षिक तकनीक के अपने मायने और इसके द्वारा विभिन्न स्तरों पर मौजूद संस्थानों को प्रदत्त सेवाओं तथा कार्यक्षेत्र के संदर्भ में काफी विकास हुआ है। जिसे पहले शिक्षकों द्वारा विभिन्न प्रकार के ज्ञान और गतिविधियों के साथ अंतःक्रिया करने हेतु उनकी क्षमताओं में वृद्धि करने के उपकरण के तौर पर देखा जाता था, वह आज सीखने के नए-नए अर्थों और इन अर्थों से जुड़ी हुई पद्धतियों का एक बड़ा पुलिंदा बन गई है।

यह गंभीर बदलाव, सूचना व संचार तकनीक (आईसीटी) तथा जिसे एल्किंड (2003) 'नवीन तकनीकी परिदृश्य' कहते हैं, से जुड़ा हुआ है। इसका शिक्षा पर, एक अवधारणा के बतौर तथा बच्चों के शिक्षण के लिए एक संस्थायीकृत व्यवस्था, दोनों पर, जो असर हुआ है उसका आकलन व विश्लेषण उन राष्ट्रों में भी मुश्किल रहा है जहां शिक्षाशास्त्र का बाजार' (कुमार 2012) भारत से कहीं अधिक विकसित रहा है। जो हम निश्चित तौर पर देख सकते हैं, वह है इसका व्यवहारवादी सिद्धांतों व सीखने की पद्धतियों पर पड़ने वाला पुनरुत्थानवादी प्रभाव। कम्प्यूटर आधारित अधिगम प्रणालियों पर सवार होकर नव-व्यवहारवादी विमर्श ने उस जमीन को फिर से हासिल कर लिया है जो यह कई देशों में सीखने के रचनावादी दृष्टिकोण व इससे जुड़ी हुई शिक्षणशास्त्रीय पद्धतियों के सामने गंवा बैठा था। भारत में रचनावादी दृष्टिकोण को दुनिया के अन्य हिस्सों की तुलना में काफी बाद में नीतिगत स्वीकार्यता हासिल हुई। एनसीएफ 2005 रचनावादी अधिगम सिद्धांत हिमायत करता है तथा व्यवहारवाद व भारतीय कक्षाओं और परीक्षा प्रणाली में इसके लगातार वर्चस्व की खुली आलोचना करता है। एनसीएफ 2005 में जिस मुख्य फर्क का जिक्र किया गया है, वह है कि रचनावादी दृष्टिकोण के अनुसार बच्चे अपने स्वयं के अनुभवों से ज्ञान का निर्माण करते हैं जबकि व्यवहारवाद नियोजित प्रलोभनों की भूमिका पर जोर देता है, एक समान मानकों व स्तरों की स्थापना करता है, और उनके अनुरूप निर्धारित योजना की वकालत करते हैं। आरटीई के अमल में आने के बाद दोनों दृष्टिकोणों के सापेक्षिक फायदों पर बहस शुरू हो गई। आरटीई रचनावाद तथा एनसीएफ 2005 की हिमायत करता है लेकिन, जमीनी हकीकत, दरअसल, रचनावाद के खिलाफ ही रही है।

शिक्षक प्रशिक्षण में भी एनसीटीई ने 2010 के एक दस्तावेज 'शिक्षक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा' में व्यवहारवादी से रचनावादी शिक्षणशास्त्र की तरफ रुख करने की हिमायत की। एक आम सहमती के संकेत नजर आते हुए भी, व्यवहारवादी पद्धति व्यवस्था में इस तरह जड़ें जमाए हुए थी कि उसको हिलाना मुश्किल रहा है। यह दो ताकतवर संस्थानों, जो कि देश में शैक्षिक विमर्श को दिशा देते हैं, के बीच मौजूद फर्क से साफ जाहिर होता है, एक संस्थान है 'शिक्षा, शोध व प्रशिक्षण के लिए राष्ट्रीय परिषद' (एनसीईआरटी) व दूसरा संस्थान है 'केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड' (सीबीएसई)। पहले संस्थान की स्थिति एनसीएफ-2005 में काफी स्पष्ट दिखाई देती है, जबकि दूसरे की कक्षा 10 और 12 के बाद सार्वजनिक परीक्षा आयोजित करवाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका लगातार ब्लूम टैक्सानौमी (ब्लूम 1956) में प्रस्तुत शैक्षिक उद्देश्यों के वर्गीकरण से बनती रही है। एक अन्य प्रभावशाली निकाय केन्द्रीय विद्यालय संगठन (केवीएस) के संदर्भ में भी यही कहा जा सकता है जो कि अपने 1000 से ज्यादा स्कूलों की मोनिटरिंग ब्लूम टेक्सानौमी में इस्तेमाल की गई शब्दावली के अनुरूप करता है व कक्षा-कक्ष जांचें भी इसी के अनुरूप तैयार की जाती हैं। आरटीई द्वारा अपनाए गए सीसीई का विरोध तथा परीक्षा प्रणाली की ओर लौटने की याचिका जिसका पहले जिक्र किया गया है, वे भी व्यवहारवादी दृष्टिकोण के लगातार जारी वर्चस्व को इंगित करते हैं।

'नए तकनीकी परिदृश्य' ने इस वर्चस्व को और भी मजबूत किया है। निजी विद्यालयों के विभेदीकृत और फैलते हुए जाल ने विविध प्रकार के नए यंत्रों और उपकरणों को प्रोत्साहित किया है। इसमें स्मार्ट कक्षाओं, कम्प्यूटर लैब, सुरक्षा व निगरानी के यंत्र जैसे क्लोज्ड सर्किट टेलीविजन सीसीटीवी और प्रशासनिक यंत्र जैसे फिंगर-प्रिंट आधारित उपस्थिति मशीनें शामिल हैं। कई निजी विद्यालय माता-पिता के लिए बच्चों के स्कूल में होने के दौरान चाइल्ड ट्रैकिंग की सुविधा उपलब्ध करा रहे हैं। इंटरनेट आधारित अधिगम सामग्री व मोबाइल फोन जिसमें कई तरह की नेटवर्किंग और रिकॉर्डिंग की सुविधाएं उपलब्ध हैं और इसी के साथ लैपटॉप, ये सब मिलकर 'नए तकनीकी परिदृश्य' का निर्माण कर रहे हैं। हालांकि, यह परिदृश्य उच्च-स्तरीय निजी विद्यालय में कहीं अधिक देखने को मिलता है, पर राज्य द्वारा संचालित विद्यालयों पर इसी तरह के वातावरण को निर्मित करने के लिए दबाव बनाया जा रहा है। उत्तर प्रदेश व राजस्थान की सरकारों ने गरीब वर्ग में मौजूद हुनर को पुरस्कृत करने के लिए प्रतीक के तौर पर मुफ्त लैपटॉप भी बांटे हैं।

मुद्दा यह नहीं है कि निजी व राजकीय विद्यालयों में इन उपकरणों की उपलब्धता और इनके इस्तेमाल के सन्दर्भ फर्क है। जो वास्तविक मुद्दा है, वह है प्रारम्भिक, खास तौर पर प्राथमिक स्कूलों में चलने वाली अधिगम प्रक्रिया पर इन तकनीक संचालित बदलावों से होने वाले असर को देखना। एनसीएफ 2005 बाल-केन्द्रित शिक्षण में व्यवहारिक अनुभवों पर जोर देता है। एनसीएफ 2005 के तत्वाधान में शैक्षिक तकनीक पर गठित राष्ट्रीय फोकस समूह ने भी प्राथमिक कक्षाओं में आईसीटी की उपयोगिता पर संदेहास्पद दृष्टि अपनाई है। समूह के आधार पत्र ने रेखांकित किया है कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था में तकनीक को एक रामबाण औषधि की तरह देखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, ना कि एक सहायक की तरह। यह विचार भी स्कूलों में आईसीटी के मामले में किसी तरह की बहस को जन्म देने में नाकाम रहे हैं। बाजार और स्वयं राज्य सरकारों का दवाब इतना मजबूत साबित हुआ कि किसी तरह की नीति या बहस के पैदा होने की गुंजाईश ही नहीं रही। यह सही है कि यह कोई भारत की ही अनूठी समस्या नहीं है। आईसीटी उद्योग शैक्षिक संस्थानों को एक विकल्पहीन बाजार की तरह देखता है। आईसीटी से समृद्ध शिक्षण का बच्चों के सीखने पर होने वाले असर के संबंध में जो शोध हुए हैं, वे इसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं और सचेत रहने की मांग करते हैं लेकिन, 'नए तकनीकी परिदृश्य' की ताकत शोध के संभावित प्रभाव से कहीं अधिक है।

शिक्षक प्रशिक्षण के संदर्भ में भी, आईसीटी आधारित समाधानों ने काफी लोकप्रियता हासिल की है और नीति निर्धारकों का समर्थन भी। आरटीई में निर्धारित छात्र-शिक्षक अनुपात को देखते हुए प्रशिक्षित शिक्षकों की भारी कमी है। इस खाई को पाटने के लिए दूरस्त शिक्षा पाठ्यक्रमों को लाया गया है। इनके माध्यम से प्रदान की जाने वाले प्रशिक्षण की गुणवत्ता पर नीति निर्धारक हलकों में सवाल उठाते रहे हैं लेकिन, इस तरह के सुझावों के प्रति आकर्षण को रोकना मुश्किल रहा है। पुरानी शैली के शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में भी आईसीटी उपकरणों की खरीद पर होने वाले खर्च को अन्य किसी तरह के खर्च पर वरीयता दी जा रही है जैसे, शिक्षकों की भर्ती पर होने वाला खर्च, या पुस्तकालय और विज्ञान प्रयोगशालओं पर होने वाला खर्च। आईसीटी को इस तरह देखा जा रहा है जैसे यह शिक्षक प्रशिक्षणों के लिए हर मर्ज की एक दवा है। जो भी हो, लेकिन आईसीटी के इस्तेमाल के लिए प्रशिक्षण ज्यादा स्पष्ट दिखाई दे रहा है, बजाय चिन्तनात्मक शिक्षण के जरिए आरटीई के बाल-केन्द्रित दृष्टिकोण को अंजाम देने के लिए होने वाले प्रशिक्षण के जो कि हर बच्चे में सवाल उठाने और पड़ताल करने की क्षमता विकसित करने में सक्षम है।

उच्च-शिक्षा से रिश्ता

शिक्षक प्रशिक्षण किसी भी शैक्षिक सुधार प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण कारक की भूमिका निभाता है, लेकिन किसी भी तरह के शैक्षिक सुधार में योगदान देने की इसकी अपनी काबिलियत इस बात पर निर्भर करती है कि इसके उच्च-शिक्षा के साथ कैसे रिश्ते हैं। इस रिश्ते की पड़ताल करने के लिए उच्च-शिक्षा को एक ऐसे संसाधन की तरह देखा जाना चाहिए जहां से एक शिक्षक, बतौर शिक्षक, अपनी योग्यता का दावा पेश करता है। स्कूली शिक्षा के प्रारंभिक चरण के शिक्षक पारंपरिक तौर पर दो तरह के लोग होते थे। जो प्राथमिक स्तर के लिए भर्ती किए जाते थे, उनमें माध्यमिक स्तर की योग्यता होनी लाजमी थी और जिन्हें उच्च-प्राथमिक कक्षाओं के लिए भर्ती होते थे उनके पास स्नातक की डिग्री होती थी। पिछले दिनों में, प्राथमिक स्तर के लिए भी स्नातक की डिग्री वाले लोग आने लगे हैं। यह आंशिक तौर पर स्नाताक बेरोजगारों की वजह से है, लेकिन इसे नीतिगत समर्थन भी मिल रहा है, जहां यह मान्यता शामिल है कि प्राथमिक स्तर के शिक्षकों के पास भी कॉलेज स्तर की योग्यता होनी चाहिए (एनसीटीई 2010)।

इसके वाबजूद कि प्राथमिक स्कूल में शिक्षण हेतु आने वाले शिक्षकों का एक हिस्सा डिग्री-पूर्व योग्यता के साथ आता रहा है, उनकी गुणवत्ता और रुझान को आकार देने में उच्च-शिक्षा की भूमिका को नाकारा नहीं जा सकता क्योंकि, जिन्होंने उन्हें माध्यमिक या उच्च-माध्यमिक स्तर पर पढ़ाया, उनके पास कॉलेज या विश्वविद्यालय स्तर की योग्यता होना जरूरी था। कॉलेज शिक्षा से प्रशिक्षण संस्थानों को किस तरह के अभ्यर्थी मिल रहे हैं, यह इस बात को निर्धारित करने में मुख्य भूमिका निभाता है कि प्रशिक्षण उनकी विषयगत समझ में किस तरह का योगदान कर पायेगा। प्रशिक्षण

के दौरान इस समझ को और निखारा जा सके व शिक्षणशास्त्रीय क्षमताओं को विकसित किया जा सके, यह तभी संभव हो सकता है जबकि उस विषय की समझ जिसे शिक्षक पढ़ाने जा रहा है, एक खास स्वीकार्य गुणवत्ता की हो। बमुश्किल ही कोई भी प्रशिक्षण संस्थान जीरो से शुरू कर सकता है। बाल मनोविज्ञान का परिचय देने व शिक्षणशास्त्र व अन्य शैक्षिक सिद्धांतों पर बात करने से पहले किसी विषय पर समझ बनाने का काम बिलकुल प्रारम्भ से नहीं किया जा सकता। यही वजह है कि भारत में उच्च शिक्षा जिस संकट से गुजर रही है, वह आरटीई के क्रियान्वयन के लिए सीधे तौर पर प्रासंगिक हो उठती है। इस संकट को पिछले सालों में कई अलग-अलग दृष्टिकोणों से जांचा परखा और देखा गया है। इस संकट को वित्तीय संसाधनों के संदर्भ में देखा गया है, प्रशासनिक समस्याओं के संदर्भ में देखा गया है, व साथ ही गुणवत्ता और शिक्षित युवा के रोजगार से जुड़े हुए प्रश्नों के संदर्भ में भी (यशपाल 2009)। वर्मा आयोग ने शिक्षक प्रशिक्षण के उच्च अकादमिक अधिगम व शोध से अलगाव को रेखांकित किया था और इसे निम्न-गुणवत्ता के लिए एक मुख्य कारक की तरह देखा था। आयोग ने यह सुझाव दिया था कि सभी स्तरों के लिए शिक्षक प्रशिक्षण को उच्च शिक्षा के क्षेत्र के रूप में माना जाना चाहिए।

शासनिक आचार व उत्तर-कल्याणकारी राज्य

'उत्तर-कल्याणकारी राज्य' शब्द भारत की राजनितिक अर्थव्यवस्था के वर्तमान दौर को इंगित करता है जो 1980 के दशक के अंत में शुरू हुआ। यह आर्थिक नीति की दिशा में एक क्रांतिकारी बदलाव से जुड़ा हुआ है जो 1980 के अंत में संघीय सरकार को जिस वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा था उसके बाद अस्तित्व में आया। सार्वजनिक विमर्श में इस संकट के बाद के दौर को वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण की दिशा में हुए आर्थिक सुधारों के दौर के रूप में जाना जाता है। (कैम्ब्रिज और अन्य 2013; कुरियन 1994)। उदारीकरण के मायने थे भारत की अर्थव्यवस्था को विदेशी पूंजी के लिए खोल देना व पारंपरिक तौर पर राज्य नियंत्रित क्षेत्रों में निजी व्यापार के अवसरों को बढ़ावा देना जैसे शिक्षा, उच्च व स्कूली शिक्षा दोनों, और स्वास्थ्य। कई अवलोकनकर्ताओं के अनुसार इन आर्थिक बदलावों ने भारत की सामान्य राजनीतिक आचार व्यवहार में एक तबदीली पैदा कर दी यानी विभिन्न क्षेत्रों में उदार विमर्श और संवाद के लिए जगह कम हो जाना जिसमें आर्थिक क्षेत्र भी शामिल हैं। आजादी के बाद लोक-कल्याणकारिता पर जो सहमति थी वह भी खत्म हो गयी क्योंकि निजी वित्त ने दो मुख्य कल्याणकारी क्षेत्रों, शिक्षा व स्वास्थ्य पर अपनी पकड़ को और मजबूत बना लिया। विमर्श में 'प्रशासन' को लोकप्रियता मिलने लगी जिससे राज्य की भूमिका नियमन और देखरेख तक सीमित हो गयी। निजी पूंजी को अधिक जगह मिल सके इस हेतु राज्य की प्रत्यक्ष दखल को धीरे धीरे कम किया गया और इसका उद्भव के प्रतीक के तौर पर स्वागत किया गया, मानो यह नौकरशाही के नियंत्रण और राजनीतिक दखलंदाजी का अंत था।

इस सामान्य संक्रमण के सबसे पहले लक्षण 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनपीई) और 1992 में जारी कार्यक्रम (प्रोग्राम ऑफ एक्शन-पीओए) के बीच के फर्क में दिखाई दिए। यह वह दौर था जब निजी पूंजी, घरेलू व विदेशी दोनों ही, के पक्ष में आर्थिक सुधार का विमर्श एक स्पष्ट शक्ल ले रहा था। पीओए ने एनपीई को नए आर्थिक परिदृश्य के साथ समायोजित करने की कोशिश की, जो कि 1991 में ज्यादा नाटकीय ढंग से तब उभरा जब नई केन्द्रीय सरकार द्वारा 'ढांचागत समायोजन कार्यक्रम' को स्वीकृति प्रदान की गई। वैश्विक कोर्पोरेट पूंजी और अंतर्राष्ट्रीय दानदाता संस्थाओं की कार्यप्रणाली के अनुरूप भारत का 'समायोजन' राज्य की भूमिका और अस्मिता में एक महत्वपूर्ण बदलाव का संकेत था। 'उत्तर-कल्याणकारी राज्य' शब्द इसी बदलाव को इंगित करता है। इसे ज्यादा बड़े पैमाने पर इस्तेमाल शब्द 'नव-उदारवादी राज्य' की तुलना में अधिक प्राथमिकता दी गई है, क्योंकि उसे समझने के लिए उदारवाद के इतिहास व इसके विभिन्न विमर्शों से परिचित होने की आवश्यकता है। 'नव-उदारवाद' शब्द का इस्तेमाल आजकल वैश्विक वास्तविकता को इंगित करने के लिए अधिक होता है, इसलिए यह विभिन्न राष्ट्रों के बीच किसी भी तरह के महत्त्वपूर्ण फर्क या विशिष्टता में कमी की धारणा को संप्रेषित करता है। भारतीय राज्य के संदर्भ में, जो कि औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत गठित हुआ, आर्थिक विकास का वर्तमान दौर, विभिन्न कार्यों और जिम्मेदारियों को

कॉर्पोरेट पूंजी के प्रबंधन विशेषज्ञों को सौंपने से जुड़ा है। राज्य की शैक्षिक जिम्मेदारियों का हस्तान्तरण 'दक्षता' के नाम पर हो रहा है। सांस्थानिक या प्रकार्यात्मक हस्तांतरण के हर मामले में निजी पूंजी शामिल नहीं है, क्योंकि शिक्षा में निवेश हेतु बड़ी मात्रा में परोपकारी पूंजी का संचय हो रहा है। परोपकार के नाम पर कई तरह की शैक्षिक जिम्मेदारियों को हासिल किया जा सकता है, क्योंकि इसमें इसका राजनितिक रूप से सही (पॉलिटिकली करेक्ट) होना मदद करता है और लोकतंत्र को लेकर कोई कुलबुलाहट भी नहीं होतीय इसके वाबजूद, जिम्मेदारियां बड़ी आसानी से लोकतंत्र के हाथों से निकलकर प्रबंधन के हाथों में चली जाती हैं। 'उत्तर-कल्याणकारी राज्य' शब्द इस तरह के बदलाव को सबसे बेहतर अभिव्यक्ति प्रदान करता है जहां इसकी अपनी जनहितकारी भूमिका ऐसी संस्कृति में गुम हो जाती है जिससे राज्य के बुनियादी प्रकार्यों में आये बदलाव पर आसानी से राजनैतिक सहमती हासिल हो जाती है।

यह सवाल उठ सकता है कि क्या औपनिवेशिक शासन के दौरान गठित भारतीय राज्य किसी समय में एक वास्तविक कल्याणकारी राज्य था। ऐसे सवाल का सबसे बेहतर जवाब संविधान में मिलता है जो भारत में कल्याणकारी समाज और राज्य का निर्माण करने की अभिलाषा प्रदान करता है। इस तरह की अभिलाषा रूपान्तरकारी दृष्टि और मूल्यों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, जिसमें सामाजिक न्याय और अधिकारों की समानता शामिल है। स्वाधीनता के बाद के शुरुआती दशकों में शिक्षा में जिन नीतियों को अपनाया गया, उनमें हम एक जनहितकारी झुकाव देख सकते हैं, इसके बावजूद कि इन नीतियों के लिए पर्याप्त वित्तीय प्रावधान नहीं था। इस तरह का झुकाव 1986 की शिक्षा नीति में अंतिम बार देखा गया। जैसा कि आगे हम देखेंगे कि इस पर जल्दी ही पुनर्विचार हुआ और इसे नए तरह से पेश किया गया जहां उद्यमिता की उन ताकतों से समायोजन स्थापित किया जाना था, जिनकी नजर में शिक्षा उत्पादों को बेचने और मुनाफे के अवसरों के लिए एक बड़ा क्षेत्र था। इस तरह के बदलाव हेतु एक बाहरी वैश्विक कार्य प्रणाली तब तक पहले से ही मौजूद थी जैसा कि टॉमलिंसन (2001) और स्लॉटर व लेस्ली (1991) जैसे विद्वानों ने रेखांकित किया है।

संसद द्वारा एक संघीय कानून के बतौर आरटीई के पारित होने के बाद यह धारणा थी कि आरटीई के क्रियान्वयन से राज्य पर जो वित्तीय बोझ पड़ने वाला था उसका एक बड़ा हिस्सा केंद्र सरकार वहन करेगी। शुरू में इस प्रक्रिया को एसएसए, संघीय व संघीय माध्यम से प्राप्त अंतर्राष्ट्रीय वित्त से पोषित एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के एक स्वाभाविक विस्तार के तौर पर देखा गया। लेकिन, 2013 में एसएसए के फण्ड के सिकुड़ने के बाद केंद्र सरकार ने आरटीई के क्रियान्वयन को राज्य की जिम्मेदारी की तरह देखना शुरू कर दिया। कई राज्यों में, यह जिम्मेदारी कॉर्पोरेट पूंजी और गैर-सरकारी संस्थाओं को सौंपी जा रही है (नाम्बिसन और बॉल 2010)। कॉर्पोरेट पूंजी के लिए दूरस्थ प्रशिक्षण कार्यक्रमों में तकनीक का इस्तेमाल एक लुभावना विकल्प साबित हुआ है। इसमें उपकरणों की बड़ी मात्रा में पूर्ति करना होता है। स्कूल व्यापार के लिए एक बड़ी जगह बन जाती है, ना केवल शिक्षणशास्त्रीय उपकरण व सामग्री के लिए बल्कि निगरानी तकनीक जैसे, सीसीटीवी के लिए भी। उत्पादों और सेवाओं के बड़े पैमाने पर फैले बाजार में राज्य द्वारा संचालित स्कूलों को शामिल करने में सार्वजानिक-निजी साझेदारी ने मुख्य भूमिका अदा की है। इस प्रक्रिया ने कॉर्पोरेट-प्रबंधन संस्कृति को स्कूल प्रशासन और कक्षा प्रक्रिया को संचालित करने का मौका दिया। 'परिणाम' आधारित शिक्षण इन नए नीतिगत तौर-तरीकों का केन्द्रीय पहलू है। इसकी मांग है कि शिक्षक अपनी भूमिका को एक पहले से नियोजित शिक्षाक्रम, जो कि नियमित जांच से बंधा हुआ है, के क्रियान्वयन तक सीमित रखें। परिणाम आधारित शिक्षणशास्त्र में उनका प्रशिक्षण उन्हें सीखने को केवल परीक्षा की तैयारी के तौर पर देखने में मदद करता है। 'दक्षता' और 'उत्तरदायित्व' जैसे शब्द इस परीक्षा आधारित शिक्षण की कार्यप्रणाली के लिए औचित्य प्रदान करते हैं। इससे शिक्षक आरटीई के मानवीय मुद्दों और धारणाओं को नजरअंदाज करने में सक्षम हो जाते हैं और इन लक्ष्यों से जुड़े हुई गुणवत्ता की अवधारणा को भी। यदि आरटीई कानून में इस तरह से संशोधन हो जाए कि इससे वार्षिक परीक्षाओं की वापसी संभव हो सके तो इससे आरटीई के सुधार कार्यक्रम को और झटका लगेगा।

उस कार्यक्रम का फोकस बच्चों के लिए जगह बनाना और इस जगह को पहचानने में शिक्षकों के सामर्थ्य को बढ़ाना था। हमारे जैसी इतनी स्तरीकृत और पितृसत्तात्मक समाज में, बच्चों की जगह को पहचानने के मायने हैं जाति, लिंग, वर्ग और धर्म से जुड़ी हुई अपनी खुद की धारणाओं और पूर्वाग्रहों से बाहर निकलना। शिक्षक के लिए यह एक बड़ी चुनौती है। भारत के मामले में, प्रारम्भिक शिक्षा को बाल-केन्द्रित बनाने के आरटीई के लक्ष्य के मायने हैं बच्चों को सामाजिक श्रेणी की तरह स्वीकार करने में एक क्रांतिकारी बदलाव (कुमार 2016)। शिक्षक द्वारा ऐसी किसी भी श्रेणी को स्वीकार करना और इसका दायरा इस पर निर्भर करता है कि शिक्षक अपनी स्वयं की शिक्षा और प्रशिक्षण के जरिये समाज में अपनी भूमिका को देखने के लिए कितने तैयार हैं तथा वे सीखने अर्थ को अनुभव के बतौर देखने में कितने स्पष्ट हैं। आरटीई ऐसे शिक्षकों की मांग करता है जो असफलता के भय और शारीरिक दण्ड का इस्तेमाल बच्चों को प्रेरित करने में नहीं करते। आरटीई सामाजिक गैर-बराबरी पर असर डाल सकता है यदि शिक्षक ऐसी संस्कृति का निर्माण करने में अपनी पेशेवर जिम्मेदारी को समझते हैं जहां बच्चे गरिमा और स्वायत्तता महसूस करें। किसी दलित बच्चे या बालिका के लिए बराबरी सीखने के रोजमर्रा के अनुभवों से जुडी हुई होती है जहां गरिमा और सहजता से भरा माहौल हो। परीक्षा में प्राप्त अंक समानता की भावना स्थापित नहीं करते, ना ही परिणाम आधारित शिक्षण से समानता जैसे सामाजिक लक्ष्य के लिए दक्षता पैदा होती है। यही कारण है कि ठोस परिणाम और उत्तरदायित्व पर जो वर्तमान में इतना जोर है, वह गलत और खोखला है। इससे बस अधिक से अधिक सार्वजनीन उपस्थिति को बढ़ावा मिल सकता है, ना कि सीखने के अनुभवों को जो कि बच्चों को बराबरी के एक जरूरी तत्व के तौर पर सम्मान महसूस करने के काबिल बनाती है। जो लोग विशिष्ट मुद्दों के लिए गुटबाजी करते हैं उनके द्वारा, शायद ना चाहते हुए भी, आरटीई की एक संकीर्ण समझ को प्रोत्साहन मिलता है। वे आरटीई के क्रियान्वयन को शुद्ध प्रशासनिक अर्थ में देखते हैं, इससे जो जगह आरटीई बच्चे और उनके शिक्षकों के लिए बनाना चाहता है, उससे ध्यान हट जाता है, यहां तक कि उसके खिलाफ ही काम हो रहा होता है। कभी-कभी इस तरह की मांग राज्य को प्रारम्भिक शिक्षा के प्रति उसकी अपनी जिम्मेदारी से बचने और इसे एनजीओ, जिनमें वे भी शामिल हैं जिनके कॉर्पोरेट हित होते हैं, के हवाले कर देने के लिए प्रोत्साहित करती है। यह वास्तव में आरटीई जैसे जटिल कानून के एक सामाजिक वास्तविकता बनने की राह में आने वाली भ्रामक कार्यप्रणाली है। कम से कम यह तो जरूर कह सकते हैं कि यह कार्यप्रणाली आज उससे कम भ्रामक नहीं है जितनी कि यह आरटीई के बनने और पारित होने से पहले थी। आरटीई भारतीय लोकतंत्र की उन कई विरोधाभासी उपलब्धियों में से एक है जो इसके गहरे सामाजिक विभाजन से जूझने के संघर्ष और अपने सामाजिक दायित्वों की अनिच्छापूर्ण स्वीकारोक्ति की राज्य की औपनिवेशक विरासत की उपज थीं। ◆

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

संपर्क : anhsirk.kumar@gmail.com

गणित शिक्षण भाग-IV

संख्याएं-गिनना

रवि कांत

'किसी संख्या को जानने का क्या मतलब होता है?' पढ़ कर आपको हंसी आ सकती है कि भला यह भी कोई सवाल हुआ? इसका तो बड़ा आसान-सा जवाब है कि अगर किसी को संख्या को लिखना-पढ़ना आता है तो वह संख्या जानता ही होगा। कुछ व्यक्ति सवाल की सरलता में छिपे हुए टेढ़ेपन की आशंका भांप कर अपने जवाब में यह भी जोड़ देते हैं कि उसे गिनना भी आना चाहिए। कुछ ज्यादा सोचने पर इसमें छोटी/बड़ी संख्या तथा घटता-बढ़ता क्रम भी शामिल कर लिया जाता है।

किसी भी आम इंसान के लिए तो अब तक के जवाब एकदम सही हैं। लेकिन दूसरों को और खास तौर पर बच्चों को संख्या सिखाने का जिम्मा उठाने वाले यानी अध्यापक के लिए ये जवाब पर्याप्त नहीं है। संख्या सिखाने से पहले चिंतनशील अध्यापकों को कई सवालों पर सोचना और तय करना पड़ता है।

जैसे :-

- पहले संख्या को पढ़ना सिखाएं, लिखना या गिनना सिखाएं?
- सिर्फ संख्या को पढ़ना सिखाएं या गिनने के साथ पढ़ना भी सिखाएं?
- सिर्फ संख्या को लिखना सिखाएं या लिखने के साथ गिनना भी सिखाएं?
- सिर्फ देखकर गिनना सिखाएं या हाथ से चीजों को गिनकर गिनना भी सिखाएं?
- लिखी हुई गिनती को देख कर बोलना सिखाएं या सिर्फ सुन कर बोलना सिखाएं या दोनों साथ सिखाएं?
- गिनती को सिर्फ क्रम से सिखाएं या गिनती भी बिना क्रम से भी सिखाएं, बिना क्रम में गिनती बोलना कैसे सिखाएं?
- रोज देख कर गिनती लिखवाएं यानी नकल करवाएं या नहीं?
- रोज गिनती बुलवाएं यानी रटवाएं या नहीं?

आपने गौर किया होगा कि ऊपर पूछे गए सवालों में दो किस्म के सवाल घुले-मिले हैं।

पहला, क्या सिखाएं और क्या न सिखाएं?

दूसरा, कैसे सिखाएं और कैसे न सिखाएं?

और तीसरा सवाल जो इनके पीछे छुपा है कि क्या किसी अवधारणा या उसके किसी पहलू को तथा क्यों किसी खास तरीके को चुने या छोड़ें? यानी तीसरा सवाल क्यों का है जो इन दोनों किस्म के सवालों के जवाब खोजने में मदद करता है।

उपरोक्त सवालों पर अध्यापकों के साथ बातचीत करने पर सबसे पहले सवाल का वे ज्यादातर यह जवाब देते हैं कि सबसे पहले पढ़ना व लिखना सिखाना चाहिए। परम्परा भी इसी बात को मजबूती देती है कि पढ़ना-लिखना सिखाने की शुरुआत अ, आ, ई, ... तथा 1, 2, 3, ... से करनी चाहिए। नतीजन अध्यापकों की निगाह अक्सर इस बात को पहचानने में चूक जाती है कि गिनती को पढ़ना-लिखना और गिनना दो एक दम जुदा-जुदा बातें हैं। दोनों में फर्क करने के लिए सिर्फ इस बात को याद दिलाना काफी होना चाहिए कि हमारे बिना पढ़े-लिखे पुरखे भी गिनती तथा हिसाब-किताब करना जानते थे और मौखिक गिनती भी जानते थे। यह बात साफ होते ही आपके लिए तय करना थोड़ा आसान हो जाता है कि बच्चों को पहले गिनती को पढ़ना-लिखना सिखाया जाए या गिनना-बोलना।

अब हमारे पास संख्या के दो अहम हिस्से हो जाते हैं-

संख्या को गिनना-बोलना और पढ़ना-लिखना।

इन दो अहम हिस्सों को अलग करते ही साल भर संख्या चार्ट की मदद से पढ़ना-लिखना करवाने वाले अध्यापक के सामने यह चुनौती खड़ी हो जाती है कि गिनना-बोलना में क्या सिखाया जाए और कैसे? अगर हम यहां पर गिनती बोलने की बात कर रहे होते तो उसे सिखाना अध्यापक के लिए बड़ा आसान-सा था। किसी भी गिनती जानने वाले बच्चे को खड़ा कर दो। वह जोर-जोर से और क्रम से गिनती बोले और उसके पीछे-पीछे पूरी कक्षा उसे दोहराए ताकि दूर-दूर तक यह संदेश जाए कि स्कूल में पढ़ाई हो रही है। इस बात का एक प्रचलित नाम गिनती बुलवाना यानी गिनती रटवाना भी है।

आप सभी जानते ही हैं कि 'गिनती' शब्द संज्ञा होती है और 'गिनना' क्रिया। तो संज्ञा को क्रिया में बदलते ही अध्यापक के सामने सोचने की मजबूरी हो जाती है। संयोग से 'सोचना' शब्द भी क्रिया ही है।

गिनती बुलवाने में अध्यापकों के सामने साफ होता है कि गिनती के नाम क्रम से बोलना तब तक सिखाना है जब तक गिनती के सभी नाम क्रम से याद न हो जाएं और सीखने वाला उसे उसी क्रम में सुना न दे। चूंकि गिनती के नाम सौ तक नए हैं इसलिए यह भी जरूरी हो जाता है कि सौ तक की गिनती एक साथ सिखाई जाए। अब भले ही इस क्रम में दिन लगे, महीने लगे या साल लगे।

गिनती से जुड़े कुछ बुनियादी सवाल

गिनना-बोलना को संख्या का एक अहम पहलू मानते ही अध्यापक के सामने कुछ और सवाल खड़े हो जाते हैं, जिनका जवाब दिए बिन आगे नहीं बढ़ा जा सकता, पीछे जरूर लौट सकते हैं, यानी गिनती करवाने के काम पर।

- क्या गिनवाएं? - क्यों गिनवाएं?
- कैसे गिनवाएं? - वैसे ही क्यों गिनवाएं?
- क्या एक से सौ तक एक ही तरीके से गिनवाएं या उसे बीच में बदलें, अगर बदलें तो कब और क्यों?
- कब कहेंगे कि बच्चे को गिनना आ गया है?
- कहां तक गिनवाएं? वहीं तक क्यों गिनवाएं?
- किस चीज से गिनवाएं? उसी चीज से क्यों गिनवाएं? यानी उस चीज को चुनने की वजहें क्या हैं? यानी गिनने के लिए किसी साफ चीज को चुनने का आधार/वजह क्या है?

क्यों गिनवाएं?

इन सवालों को पढ़ते वक्त आपका ध्यान दो चीजों पर जरूर गया होगा। पहला, गिनने की बात करते या उसमें जुड़ा सवाल पूछते वक्त हमें गिनती का नाम यानी संख्या-नाम के बारे में सोचने या कुछ कहने-पूछने की जरूरत नहीं बचती। क्योंकि गिनने के साथ-साथ गिनती का नाम इस तरह गुंथा रहता है कि हम संख्या-नाम इस्तेमाल किए बिना गिनने में एक कदम भी नहीं चल सकते। लेकिन इसका उल्टा सही नहीं है। गिनती के नामों को बोलते वक्त हम एक-दो क्या सौ-सौ कदम तक दौड़ लेते हैं और एक बार भी गिनने की जहमत तक नहीं उठाते। यानी आप गिनना, गिनती के नाम से काट कर नहीं सिखा सकते लेकिन गिनती के नामों को गिनने से काट कर करवा सकते हैं। यहां पर गिनती के नाम बुलवाने को करवाना इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि उसके साथ गिनती के उन नामों के मतलब को समझने का कोई काम नहीं हो रहा है। अब आप तय कर सकते हैं कि आपको सिर्फ गिनती के नाम रटवाते हैं या गिनने के साथ-साथ गिनती के नाम यानी संख्या-नाम सिखाने हैं ताकि बच्चे गिनती के नामों के साथ-साथ उसके अर्थ को भी समझें। यानी 'क्यों गिनवाएं?' का जवाब यह हो सकता है कि बच्चे हर गिनती के नाम का मतलब समझ कर सीख सकें।

दूसरा, गिनने की बात करते ही आप साल भर तक और कभी कभी दो-पांच साल तक मुंह-जुबानी गिनती के नामों की जुगाली से काम नहीं चला सकते। गिनने में आपको आंख, कान और मुंह के इस्तेमाल के साथ-साथ हाथों का भी इस्तेमाल करना चाहिए। उससे भी काम लेना चाहिए, जिसमें हमारे समाज का वर्चस्वशाली तबका तथा उसमें जकड़ा शैक्षिक तंत्र बचता रहता है।

कैसे गिनवाएं

''क्यों गिनवाएं?'' वाले सवाल का जवाब साफ होते ही आप इस पर सोचना शुरू कर सकते हैं कि ''कैसे गिनवाएं?'' हम जानते हैं कि गिनती के नाम रटवाना तो हम सभी को आता है। लेकिन अगर हम गिनना-बोलना सिखाना चाहते हैं तो इसके लिए हमें यह भी पता लगाना पड़ेगा कि गिनने में किसी इंसान या बच्चे को क्या-क्या आना चाहिए? तभी, उसे कैसे गिनना सिखाएं वाले सवाल का जवाब खोजा जा सकता है। अब तक गिनने में दो चीजें तो बहुत साफ तौर पर उभर कर सामने आ चुकी हैं:-

गिनना और गिनने के साथ-साथ संख्या का नाम बोलना।

क्या इसके अलावा भी गिनने में ध्यान रखने लायक कुछ होता है?

क्रम से और बिना क्रम से गिनना

गिनना-बोलना

हम जानते हैं कि गिनने में एक क्रम होता है। इसीलिए हम क्रम से गिनना और हर बार गिनने के साथ संख्या का नाम बोलना सिखा सकते हैं। इसके साथ ही यह सवाल भी उठा सकते हैं कि क्या हम हर बार क्रम से ही गिनकर संख्या को इस्तेमाल करते हैं। ऐसा तो होता नहीं। अब हमारे सामने सवाल यह है कि हम बिना क्रम से गिनना सिखाएं या सोच कर छोड़ दें कि यह काम संख्या अपने-आप कर लेगी। कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि गिनती बुलवाते/रटवाने में भी तो हम सिर्फ क्रम से गिनती रटवाते हैं तो इसमें बिना क्रम में गिनती व गिनती के नाम सिखाने की जरूरत ही क्या है? इस सवाल पर सोचने पर हमारा ध्यान इस बात की तरफ जाता है कि बिना क्रम के गिनती रटवाना व्यावहारिक नहीं है। आप किसी बच्चे को दो, पांच, नौ, एक, चार आदि रटवा कर देखिए, उसे पता ही नहीं चलेगा कि इन नामों का करना क्या है? इनमें क्रम क्या है? बिना क्रम के गिनती रटवाने की बात करते ही इस काम की निरर्थकता साफ दिखने लगती है। लेकिन आप जब गिनने के साथ गिनती का नाम सिखाते हैं तो उसे बिना क्रम भी सिखा सकते हैं।

क्योंकि गिनती के हरेक नाम के अर्थ को समझने के लिए गिनना जरूरी है और गिनने के लिए चीजों का इस्तेमाल जरूरी है। गिनती बोलने को अर्थ से जोड़ते ही वह सिर्फ मुंह-जुबानी करने वाला काम न रह कर, हाथ से किया जाने वाला काम भी हो जाता है। चीजों को गिनकर हर नाम के अर्थ तक पहुंच बनाई जा सकती है। गिनती रटवाने में आपके पास सिर्फ एक काम सिखाने के लिए था, गिनना-बोलना में आपके पास दो काम हो गए।

- क्रम से (चीजें) गिनना व बोलना।
- बिना क्रम से (चीजें) गिनना व बोलना।

यहां तक पहुंच कर आपके मन में यह सवाल उठ सकता है कि क्या इन दोनों कामों को अच्छे से कर लेने पर गिनना आ जाना मान लिया जाए कि उपरोक्त दोनों कामों को करने वाला गिनकर संख्या नामों को बोलना सीख चुका है। इस काम को हम गिनना-बोलना का नाम दे सकते हैं।

अब तक हमने जो सिखाया उसका खाका इस तरह से बन सकता है।

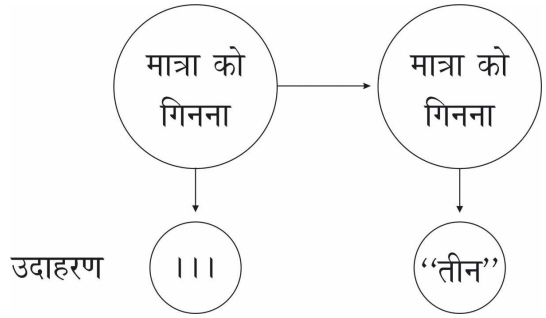

सुनना-गिनना

अगर बच्चे को किसी संख्या का नाम जैसे ''पांच'' सुनाई दे तो इसका मतलब निकालने के लिए उसे क्या करना पड़ेगा? साफ है कि उसे चीजों को गिनकर देखना पड़ेगा कि पांच में कितनी चीजें ली जा सकती हैं। यानी सिर्फ गिन कर संख्या का नाम बोल देना ही काफी नहीं। संख्या का नाम सुन कर उतनी चीजें गिन कर बता पाना भी आना चाहिए। यह काम उसे दोनों तरह से करना आना चाहिए- क्रम से तथा बिना क्रम से। तभी हम कह पाएंगे कि बच्चे को गिनना-बोलना ठीक से आ गया है। तो अब आपके पास दो काम और हो गए-

- क्रम से गिनती सुनना व उतनी चीजें गिनना।
- बना क्रम से गिनती सुनना व उतनी चीजें गिनना।

इसे हम ''सुनना-गिनना'' का नाम भी दे सकते हैं। यानी ठीक से गिनना आना तब मानेंगे जब बच्चा गिनना-बोलना के साथ सुनना-गिनना भी सीख ले। आपका ध्यान इस बात पर भी जा सकता है कि गिनना बोलना को सीखते वक्त भी बच्चा गिनने के तरीके को देख कर गिनना और इसके साथ ही बोली गई संख्या का नाम सुन कर उसे बोलना सीखता है। लेकिन उसमें हमारा जोर इस बात पर रहता है कि वो गिने और संख्या नाम बोले और उसमें उसे देखने-सुनने में मदद मिले। तो सुनना-सीखना के काम में हम बच्चों के दिमाग में एक खाका और गढ़ सकते हैं जो पिछले खाके से उलटा है।

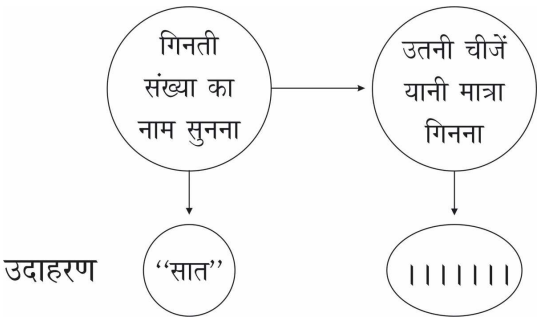

सभी को एक साथ गिनना सिखाने के लिए शिक्षण सामग्री

आपने अब तक इस बात पर भी गौर किया होगा कि चीजों को यानी मात्रा को गिनने का काम शामिल करते ही गिनती रटवाने के एकमात्र नीरस व उबाऊ काम की जगह हमारे पास मौजूद कामों की संख्या चार हो गई है। यानी अब आप गिनना सिखाने के लिए चार प्रकार के काम कर सकते हैं। लेकिन गिनती रटवाने के नीरस काम में चीजों की मदद से मात्रा को गिनने को शामिल करते ही कुछ और सवाल सामने आ खड़े होते हैं। उनमें से कुछ तो सामग्री से जुड़े रहते हैं और कुछ सामग्री को इस्तेमाल करने के तौर तरीके से।

सामग्री का चयन इस बात पर भी निर्भर करता है कि आप उसका इस्तेमाल कैसे करना चाहते हैं? अगर आपकी राय/मान्यता यह है कि सामग्री सिर्फ अध्यापक के पास ही रहनी चाहिए या ज्यादा से ज्यादा दो-चार बच्चों की पहुंच में होनी चाहिए तो आप बेहतर किस्म की महंगी, नाजुक तथा दो-चार बार इस्तेमाल के बाद फेंक दी जाने वाली तथा कुछ के लिए पर्याप्त में सामग्री चुन सकते हैं। लेकिन अगर आप यह सोचते हैं कि गिनने की सामग्री हरेक बच्चे के हाथ में होनी चाहिए तो आप ऐसी सामग्री का चयन करेंगे जो बेहतर किस्म की सस्ती, मजबूत, टिकाऊ तथा हरेक के लिए पर्याप्त मात्रा में हो। तीलियां या सरकंण्डे एक ऐसी ही सामग्री है जिसका इस्तेमाल गिनना सिखाने में किया जा सकता है।

आपका ध्यान इस बात पर भी जरूर गया होगा कि सामग्री और उसके इस्तेमाल में दो तरह की चीजों पर निर्णय लेना पड़ेगा। पहला, सामग्री किसके जिम्मे रहेगी, सिर्फ अध्यापक के, सिर्फ बच्चों के या अध्यापक व बच्चों दोनों के कब्जे में। या सिर्फ बक्सों में ही दफन करेंगे। यानी एक पहलू स्कूल की जायदाद यानी संपत्ति के इस्तेमाल में हिस्सेदारी का है। वह सामग्री जिसके कब्जे में होगी वह उसका इस्तेमाल कर पाएगा। दूसरा उस सामग्री का गणितीय ज्ञान के इस्तेमाल से तथा सीखने संबंधी मान्यता पर निर्भर करता है। अगर अध्यापक यह मानता है कि सामग्री की मदद से गिनने के काम करके दिखा देने भर से बच्चे अपने दिमाग में गणित के ज्ञान का निर्माण कर सकते हैं तो खुद के गिन पाने के लायक सामग्री की व्यवस्था करेगा। उसका इस्तेमाल करेगा और उसे खुद के पास महफूज रखेगा। अगर अध्यापक तथा शैक्षिक तंत्र की मान्यता यह है कि मात्रा की समझ दूसरों द्वारा की जा रही गिनने की क्रिया को देखने के बजाय खुद के हाथों में किसी चीज की मात्रा को गिनने से खुद के दिमाग में बेहतर ढंग से बनती है तो वह हर बच्चे के लिए गिनने के लिए पर्याप्त, मजबूत व टिकाऊ तथा बेहतर किस्म की सामग्री की व्यवस्था करेंगे। यानी आपको सामग्री के मालिकाना हक तथा उसके इस्तेमाल से गणितीय ज्ञान के निर्माण के तरीको के बारे में कोई न कोई निर्णय करना पड़ेगा।

सभी को एक साथ गिनना सिखाने का एक तरीका

अब तक की बातचीत में गिनना सिखाने का जो तरीका सामने आ रहा है वह कुछ इस तरह का है कि अध्यापक चीजों से गिन रहा है और बच्चे भी उसके साथ-साथ या उसके पीछे-पीछे गिन रहे हैं। इसकी भी कई पेचीदगियां हैं जिन पर अलग से विचार किए जाने की जरूरत है। फिलहाल हम अपना ध्यान गिनने पर केन्द्रित करते हैं। हम बड़े तो गिनना जानते हैं। लेकिन अगर हम सामग्री की मदद से गिनना सीखने वाले बच्चों का बारीकी से अवलोकन करें तो बच्चों को आने वाली कई मुश्किलों को देख सकते हैं। जिसे अक्सर सही गिनने की शर्तों के तौर पर भी जाना जाता है। जैसे-

1. किसी चीज को छोड़ देना - अक्सर बच्चे इस बात को भूल जाते हैं कि उन्हें किसी समूह की हरेक चीज को गिनना है। जब वे पांच चीजों में किसी चीज को गिनना छोड़ देते हैं तो वे उसे तीन/चार गिन सकते हैं।
2. किसी चीज को दो बार गिन लेना - कभी-कभी बच्चे तेजगति से संख्या नाम बोलते हैं ओर धीमी गति से गिनते हैं तब भी ऐसा हो जाता है। कभी-कभी वे एक ही चीज को भी दो बार गिन लेते हैं।

3. क्रम में गिनते वक्त संख्या के नामों को तयशुदा क्रम में बोलना। यानी एक, दो, तीन, ...

इन तीनों को मिलाने से सही तरह से गिनने की पहली शर्त बनती है- हरेक चीज को सिर्फ और सिर्फ एक बार गिनना और उसके साथ एक संख्या नाम बोलना।

4. समूह की किसी भी चीज में गिनने की शुरुआत करना। चीजों में तो ऐसा होता है कि आप किसी भी चीज से गिनना शुरू कर दें। चित्रों में गिनते वक्त इस पर ध्यान देने की जरूरत पड़ती है।

5. यह समझाना कि किसी समूह की चीजों को गिनते वक्त अंतिम चीज को गिन कर बोली गई संख्या का नाम पूरे समूह की कुल चीजों की संख्या को दर्शाता है।

अगर कोई गिनते वक्त इन सभी बातों का ध्यान रखता है तो हम कह सकते हैं कि उसे ठीक से गिनना आता है।

आप देख सकते हैं कि अभी तक हम गिनने की ही बात कर रहे हैं। अभी भी गिनने से जुड़ी बातें पूरी नहीं हुई हैं। इस लेख में गिनने के मतलब पर यानी संख्या के अर्थ पर बात की गई है। यानी हमने संख्या के अर्थ व उससे जुड़े दो पहलुओं- मात्रा, संख्या नाम को गहराई से समझने की कोशिश की है, अभी इसका तीसरा पहलू- संख्या अंक तथा मात्रा व संख्या नाम के साथ उसके संबंधों को समझना बाकी है। इसके साथ ही एक संख्या का एक दूसरा बड़ा पहलू अभी भी हमारी पहुंच से बाहर है, वह है- संख्याओं के आपसी संबंध। संख्याओं के आपसी संबंधों को समझे बिना संख्याओं की व्यापक समझ मुमकिन नहीं और उसे आगे गहरा करना भी मुमकिन नहीं है। इन चीजों पर अगले लेखों में बारी-बारी से बात करेंगे। ◆

लेखक परिचय : करीब 26 वर्षों से प्रारंभिक शिक्षा में शिक्षक-शिक्षा, शिक्षण-सामग्री एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण, शिक्षाक्रम और अनुवाद के क्षेत्र में कार्य। आजकल विभिन्न संस्थाओं के साथ बतौर शैक्षिक सलाहकार कार्यरत हैं।

संपर्क : 9414057424; ravikaant@gmail.com

सोचना, याद करना, समझना और सीखना

राजेश कुमार

भाग-II

आ लेख के इस भाग में हम याद करने, समझने और सीखने के आपसी रिश्ते तथा इन तीनों के सोचने से रिश्ते को देखने की कोशिश करेंगे। पहले भाग में हम देख चुके हैं कि सोचना हमारे दिमाग की एक सामान्य स्थिति है। यानी सोचना लगातार होता रहता है। परन्तु हम सिर्फ अपने सोचने के बारे में ही नहीं बल्कि दूसरों के सोचने के बारे में भी आश्वस्त रहते हैं। उदहारण के लिए, यदि मैं यह कहता हूं कि *'आज सब्जी मंडी में मेरे 400 रूपये खर्च हो गए'* तो यह नहीं कहता कि *'मैंने सब्जी खरीदी'* और आप भी ये सवाल नहीं करते। आपकी सोचने की क्षमता पर मेरा विश्वास ही मुझे यह आजादी देता है कि मैं आधी बात कहूं और मान लूं की आप पूरी समझ गए। श्रोता या पाठक से ऐसी अपेक्षा नहीं होने पर पता नहीं हमें एक बात को कहने के लिए कितनी बातें कहनी पड़ेंगी; और शायद फिर भी कुछ-न-कुछ छूट जाएगा। इसीलिए हम कभी नहीं कहते कि *'मैं पढ़ रहा हूं और सोच रहा हूं'* या *'मैं लिख रहा हूं और सोच रहा हूं'*, जबकि पढ़ने और लिखने में सोचना निहित है। *'मैं सोच रहा हूं'* जैसे वाक्य हम तभी इस्तेमाल करते हैं जब प्रकट रूप से कुछ और नहीं कर रहे होते हैं।

ऊपर की गई बातचीत के संदर्भ में अब इस प्रश्न को देखें: ''कहीं ऐसा तो नहीं कि जैसे पढ़ने-लिखने में सोचना निहित होने के बावजूद हम कभी यह नहीं कहते कि *'मैं पढ़ रहा हूं और सोच रहा हूं'* उसी तरह याद करने, समझने और सीखने में सोचना निहित होने बावजूद हम कभी यह नहीं कहते कि *'मैं याद कर रहा हूं और सोच रहा हूं; मैं समझ रहा हूं और सोच रहा हूं; या मैं सीख रहा हूं और सोच रहा हूं।''*? सामान्यतः जब हम याद करने, समझने और सीखने की बात करते हैं तो ऐसा लगता है कि इन सबकी अलग प्रक्रिया होती है, जिसके लिए किसी अलग तरह के ज्ञान और कौशल की आवश्यकता होती है। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है कि सोचना और ये तीनों काम एक साथ नहीं हो सकते। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जैसे हम लगातार सोचते रहते हैं उसी प्रकार हम लगातार याद करते रहते हैं, समझते रहते हैं, और सीखते रहते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने के लिए थोड़े विस्तार से बात करने की आवश्यकता है।

सोचना और याद करना

आइए सोचें कि कितनी बातें हमें याद रहती हैं और कितनी हम भूल जाते हैं। मैं जब सुबह सो कर उठता हूं तो मुझे यह याद रहता है कि मैं कौन हूं और मैं कहां हूं। मुझे ब्रश करने और चाय पीने से लेकर नहाना, कपड़े पहनना और दफ्तर जाना याद रहता है। दफ्तर में कौन मेरा शुभचिंतक है और कौन नहीं यह भी याद रहता है। मुझे काम क्या करने हैं यह भी याद रहता है। शाम को घर लौटकर परिवार के साथ बाजार जाना, बाजार से घर लौटना, समय से खाना और सोना भी याद रहता है। यह अवश्य है कि ये सारी तथा यहां

नहीं लिखी गईं ढेरों बातें हमेशा मैं याद नहीं रखता। परन्तु जब जिसकी जरुरत होती है उसे याद कर लेता हूं। अपवादस्वरूप कुछ ऐसे मौके हो सकते हैं जब मैं किसी से मिला और मुझे उसका नाम याद नहीं आया। कुछ ऐसे लोग जिन्हें भूलने की बीमारी हो उनके लिए यह संभव नहीं होगा। परन्तु लगभग सारे लोग इस तरह की ढेरों बातें बिना किसी विशेष प्रयास के याद कर लेते हैं। याद करने की इस क्षमता के बिना अपने जीवन की कल्पना मुझे तो भयावह लगती है। आपको मेरी बात अतिशयोक्ति या हास्यास्पद लग सकती है, पर जरा कल्पना कर के देखें - किसी दिन आप सोकर जगें और आपको याद नहीं हो कि आप कौन हैं और कहां हैं; आपके सामने जो महिला खड़ी हैं वह आपकी बहन हैं या आपकी मां हैं।

हम अपने दैनिक जीवन में अनेक कार्यों को करते हुए ढेरों बातें याद रखते हैं, परन्तु हमारा ध्यान हमेशा अपने कार्यों पर होता है न कि याद रखने पर। जैसे ही याद करना एक सचेत प्रक्रिया के रूप में बदलता है यह मुश्किल हो जाता है। बातों को अपने सामान्य जीवन से काटकर कृत्रिम तरीके से याद करने की कोशिश याद करने की सामान्य प्रक्रिया को मुश्किल बना देती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जैसे ही कोई दूसरा यह तय करने लगता है कि क्या याद करना है, कब याद करना है, और कैसे याद करना है यह कार्य कठिन हो जाता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों में चरों (variables) को नियंत्रित करने की बाध्यता के कारण याद करने की क्षमता की जांच में अर्थहीन ध्वनि समूहों (शब्दों) और वाक्य-खण्डों का इस्तेमाल किया जाता है जिन्हें याद रख पाना मुश्किल होता है। इसका कारण याद करने की क्षमता की कमजोरी की बजाय याद किए जाने वाली बातों का कोई अर्थ नहीं बना पाना और उनमें कोई संबंध नहीं जोड़ पाना होता है। परीक्षा कक्ष में छात्रों के प्रश्नों के उत्तर नहीं याद कर पाने का कारण सारी प्रक्रिया का कृत्रिम रूप से होना होता है, जिसमें उनका ध्यान कुछ और करने की बजाय याद करने पर होता है, और जो भी वे याद करने की कोशिश करते हैं उसका ठीक-ठीक मतलब उन्हें पता नहीं होता है।

याद करने को इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह सोचने का ही एक रूप दिखाई देता है। याद करने के लिए मुझे सोचना बंद नहीं करना पड़ता है। जब भी मैं अतीत के बारे में सोचता हूं उससे जुड़ी कई बातें याद कर पाता हूं। उदाहरण के लिए, जब मैं महात्मा गांधी के बारे में सोचता हूं तो यह याद कर पाता हूं कि उनकी हत्या एक प्रार्थना सभा में गोली मारकर की गई थी। यही नहीं, जब मैं वर्तमान में जुड़ी हुई बातों और घटनाओं के बारे में सोचता हूं तो मुझे गांधी की हत्या याद आती है। जैसे आज मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों में पूजा/नमाज/प्रार्थना के दौरान लोगों की होने वाली हत्या। शायद वर्तमान की बातों को अतीत से संबद्ध किए बिना उनकी समझ भी नहीं बनती। कहीं ऐसा तो नहीं कि याद करना सोचने का व्याकरणिक भूत काल है?

सोचना और समझना

समझना हमारे जीवन में लगातार चलता रहता है। अगर हम अपने आस-पास और अपने जीवन में होने वाली घटनाओं को देखें तो हम लगातार उनकी समझ बनाते रहते हैं। बच्चों को यदि कक्षा से बाहर देखें तो वो बहुत कम उलझन में दिखाई देते हैं। उन्हें पता होता है कि क्या हो रहा है और किस परिस्थिति में उन्हें क्या करना है। उलझन में ना होने का मतलब है कि वो उन परिस्थितियों को समझ रहे हैं। हां, उनकी समझ सही या गलत हो सकती है। कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि मैं कहूं कि हर व्यक्ति समझने में समर्थ होता है, और हर व्यक्ति अपने जीवन में बिना किसी विशेष प्रयास या किसी तरह के प्रशिक्षण के अलग-अलग परिस्थितियों में इसका प्रमाण देता रहता है।

समझने की प्रक्रिया में समझने वाला सक्रिय होता है। चीजें या घटनाएं अपना अर्थ स्वयं नहीं बतातीं। हम जो कुछ भी पहले से जानते हैं उसका इस्तेमाल कर उनका अर्थ निर्माण करते हैं, जिसे समझना कहा जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम अखबार पढ़ते हैं तो खबरों में कुछ बातें ही लिखी होती हैं। बाकी बातें जो कि नहीं लिखी होती हैं उनका हम अपनी तरफ से इस्तेमाल कर खबर को समझते हैं। लेखक/वक्ता और पाठक/श्रोता के बीच चलने वाली इस प्रक्रिया के बारे में हम पहले ही बात कर चुके हैं।

ऐसा भी होता है कि हम कुछ चीजों/बातों/घटनाओं को नहीं समझ पाते हैं कि यह क्या है, यह क्या कहा जा रहा है या यह क्या हो रहा है और क्यों। ऐसी परिस्थिति में हम उलझन में पड़ जाते हैं और निर्णय नहीं ले पाते हैं। परन्तु ऐसा क्या हमारी समझने की किसी क्षमता या कौशल के अभाव के कारण होता है या उन चीजों/बातों/घटनाओं से संबंधित पूर्व अनुभव और पूर्व ज्ञान के अभाव के कारण? ऐसे में '*तर्कपूर्ण सोच*' का कोई कोर्स मेरी समझ बढ़ाने में क्या मदद कर सकता है?

हमारा सांस लेना हमेशा चलता रहता है पर हम शायद ही इस ओर कभी ध्यान देते हैं। हां, जब सांस लेने में कोई परेशानी हो तो हम उसके बारे सजग हो जाते हैं। ऐसे ही समझना हमारे जीवन में लगातार चलता रहता और हमारा ध्यान उसकी तरफ नहीं होता। हमारा सारा ध्यान उस काम पर होता है जो कि हम कर रहे होते हैं और उसमें समझना बिना किसी विशेष प्रयास के होता रहता है। हमारा ध्यान समझने पर तभी जाता है जब हम किसी चीज/बात/घटना को समझ नहीं पाते हैं। जैसा कि हम पहले ही बात कर चुके हैं कि इसका कारण संबंधित पूर्व अनुभवों और पूर्व ज्ञान का अभाव होता है। हमारे जीवन में आमतौर पर होने वाली चीजों/बातों/घटनाओं का एक इतिहास और एक संदर्भ होता है जिसका इस्तेमाल कर हम उन्हें समझते हैं। जैसे ही इनसे कटी हुई कोई चीज/बात/घटना हमारे सामने आती है हमें उसे समझने में मुश्किल आती है। छात्रों के समझने में आने वाली समस्या दरअसल मुख्य रूप से इतिहास और संदर्भ से काटकर चीजों/बातों/घटनाओं को समझाने की कोशिश का नतीजा है न कि उनकी समझने की क्षमता और कौशल की किसी कमी का। तरह-तरह के कोर्स के द्वारा बच्चों के समझने की क्षमता और कौशल को विकसित करने की कोशिश करने की बजाय हमें समझी जाने वाली चीजों/बातों/घटनाओं के इतिहास और संदर्भ की उपलब्धता को सुनिश्चित करने की कोशिश करनी चाहिए। यदि आपको कोई ऐसी चीज पढ़ने को मिलती है जिसके बारे में आप कुछ भी नहीं जानते और जो कुछ भी आप पहले से जानते हैं उससे इस नई चीज का कोई संबंध नहीं बनता तो आपको समझने में मुश्किल आएगी ही। स्कूली छात्रों की एक बड़ी संख्या का दिए गए पाठों को पढ़ तो लेना लेकिन समझ नहीं पाने का कारण उनकी किसी बौद्धिक क्षमता या कौशल का आभाव नहीं है, बल्कि उन पाठों को बच्चों के पूर्व अनुभवों से जोड़ पाने में हमारी विफलता है।

आखिर में यह ध्यान देना भी आवश्यक है कि सोचना और समझना साथ-साथ ही होता है। ऐसा नहीं होता कि पहले तो मैं सोचता हूं और फिर समझता हूं, या पहले तो मैं समझता हूं और फिर सोचता हूं। किसी चीज/बात/घटना के बारे सोचना ही समझना है। हां, ऐसा जरुर हो सकता है कि मैं इनके बारे में जितनी बार सोचूं तो मेरी समझ बदलती जाए। कहीं ऐसा तो नहीं कि जैसे याद करना सोचने का भूतकाल है, वैसे ही समझना सोचने का वर्तमान काल है?

सोचना और सीखना

सीखने के अर्थ और उसकी प्रक्रिया को लेकर दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों की राय एक-सी नहीं है। दर्शन के क्षेत्र में अनुभववादी और तर्क/बुद्धिवादी तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारवादी, संज्ञानवादी और संरचनावादी सीखने के मायने और सीखने की प्रक्रिया के बारे में अलग-अलग राय रखते हैं। इस बहस, जो कि एक नए आलेख का मुद्दा हो सकती है, से बचते हुए इस आलेख में सीखने शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया गया है जिसे अनुभवों का अर्थ समझ पाने और उनका आगे आने वाले अनुभवों में इस्तेमाल कर पाने के रूप में समझा जा सकता है।

सीखने को यदि इस अर्थ में लें तो यह कहना मुश्किल हो जाएगा कि कोई व्यक्ति एक दिन में या अपने पूरे जीवन में कितनी चीजें सीखता है। सीखने की यह प्रक्रिया तो अनवरत चलती ही रहती है। सीखने की यह प्रक्रिया तो कतई मुश्किल नहीं है। इसके लिए न तो हम कोई विशेष प्रयास करते हैं, न ही इसके लिए किसी उद्दीपन, प्रोत्साहन या पुरस्कार की जरुरत होती है। सीखना सांस लेने जैसी एक सामान्य प्रक्रिया है जिसके प्रति हम तभी सजग होते हैं जब इसमें बाधा आती है। किसी भी परिस्थिति में जैसे ही हमारा सीखना बाधित होता है हमें बोरियत होने लगती है। इसके दो संभावित कारण हो सकते हैं - या तो जो कुछ भी हो रहा है वह इतनी बार हो चुका है कि उसमें हमारे सीखने के लिए कुछ है ही नहीं, या जो कुछ भी हो रहा है उससे संबंधित कोई भी पूर्व अनुभव या पूर्व ज्ञान हमारे पास नहीं

होने के कारण हमें उसका कोई मतलब ही नहीं समझ आ रहा है। जैसे सांस रुकते ही हम बेचैन हो जाते हैं वैसे ही सीखना बाधित होते ही हमें बेचैनी होने लगती है।

5 साल के बच्चे लगभग 20 नए शब्द और उनका संदर्भों में उचित प्रयोग हर दिन सीखते हैं जो कि 18 वर्ष के आस-पास 3000 से 5000 शब्द प्रतिवर्ष हो जाती है (Anglin and George, 2000)। यह सारा सीखना बिना किसी अतिरिक्त प्रयास या अभ्यास के होता है। बच्चे सिर्फ शब्द ही नहीं सीखते, वे अपने मित्रों, शिक्षकों, माता-पिता और अन्य लोगों से व्याकरण के नियम और मुहावरे भी सीखते हैं। बच्चे सिर्फ भाषा ही नहीं सीखते बल्कि उनके अनुभव के दायरे में आने वाली अनेकों वस्तुओं, पशुओं, पक्षियों और क्रियाओं के बारे भी जानते हैं जिसे वो निश्चित रूप से इस दुनिया में आने के बाद ही सीखते हैं। वे इन सबके आपस में रिश्तों और स्वयं से इनके रिश्तों के बारे भी जानते हैं। इतना ही नहीं वे खुशी और दुःख जैसी ढेरों अमूर्त अवधारणाएं भी सीख जाते हैं। इन सबके आधार पर यह तो आसानी से कहा जा सकता है कि सीखना एक सहज और स्वाभाविक तौर पर होने वाली प्रक्रिया है जिसके लिए किसी अतिरिक्त प्रयास की आवश्यकता नहीं है।

सीखना यदि इतना ही आसान है तो बच्चों को स्कूलों में सीखने में परेशानी क्यों होती है? क्यों हमें बार-बार सुनने और पढ़ने को मिलता है कि हमारे बच्चे स्कूलों में पढ़ना, लिखना या गणित के सवाल हल करना सीख नहीं पा रहे हैं? सीखना आसानी से तभी हो पाता है जब हम अपने जीवन की सामान्य गतिविधियों में लगे होते हैं और हमें पता होता है कि हम क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं। याद करने और समझने की तरह सीखना भी आसानी से तब हो पाता है जब हमारा ध्यान किसी उद्देश्यपूर्ण कार्य को करने पर होता है जिसके लिए हमारे पास पर्याप्त पूर्व ज्ञान और पूर्व अनुभव हों न कि सीखने पर। जैसे ही हमारा ध्यान उद्देश्यपूर्ण कर्म से हटकर सीखने पर आ जाता है, सीखना मुश्किल हो जाता है। यदि हम चीजों को असानी से सीखना और सिखाना चाहते हैं तो हमें अपना सारा ध्यान सीखने-सिखाने से हटाकर कुछ करने पर लगाना होगा।

मनोवैज्ञानिकों के लिए सीखने के उदाहरण अधिकतर कृत्रिम ही होते हैं। इसका कारण हम मनोविज्ञान के इतिहास में देख सकते हैं। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में मनोविज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में शामिल करने के प्रयास हो रहे थे। इसके लिए यह जरुरी था कि सीखने से जुड़े ऐसे प्रयोग किए जा सकें जो हु-ब-हु दुहराए जा सकते हों। ऐसे किसी भी प्रयोग में एक प्रयोगिक इकाई (unit of experiment) जो अपने-आप में संपूर्ण हो आवश्यक होता है। मनोविज्ञान के संदर्भ में सीखने की ऐसी इकाई का होना और उसे परिभाषित कर पाना जरुरी था। परन्तु सीखने का तो एक इतिहास होता है और सीखना संदर्भों में होता है जिसमे सीखने वाले के पूर्व अनुभवों और पूर्व ज्ञान का इस्तेमाल होता है। ऐसे में सीखने की किसी इकाई को स्थिर रूप में देख पाना और परिभाषित कर पाना संभव नहीं था। सीखने की प्रक्रिया में सोचना शामिल होता है जिसमें सीखने वाला अपने पूर्व अनुभवों और पूर्व ज्ञान का इस्तेमाल करता है। परन्तु यह सीखने वाले का सोचना ही है जो सीखने की पुर्वानुमेयता (predictability) को असंभव बना देता है। मनोवैज्ञानिकों के लिए यह सुनिश्चित करना आवश्यक था कि सीखने की प्रक्रिया में सोचना शामिल ना हो पाए। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब कोई अर्थ निर्माण न हो सके। इसका समाधान मनोवैज्ञानिकों ने निरर्थक सीखने के रूप में ढूंढ़ निकाला। इस तरह के सीखने में चूंकि कोई अर्थ निर्माण नहीं होता अतः इसका कोई इतिहास और संदर्भ भी नहीं हो सकता, और इसमें किसी पूर्व अनुभव या पूर्व ज्ञान की भी कोई भूमिका नहीं होने के कारण किसी प्रकार के सोचने की गुंजाइश नहीं होती। मनोवैज्ञानिकों ने तो ऐसा करके अपने आप को वैज्ञानिक बना डाला, परन्तु छात्रों के ऊपर इसका प्रभाव बहुत दूरगामी साबित हुआ जिसकी शायद किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। निरर्थक सीखने-सिखाने की कोशिश वहां भी होने लगी जहां अर्थपूर्ण सीखने-सिखाने की पूरी संभावना और सुविधा थी। वर्तमान समय में विद्यालय में बच्चों के सीखने में विफलता का यह एक मुख्य कारण समझ में आता है। सीखने-सिखाने की मशीनी, अर्थहीन और नियंत्रित प्रक्रिया की यह समझ सीखने की व्यवहारवादी सोच के रूप में भी देखी जा सकती है जहां किसी को कुछ भी सिखा देने का दावा भी किया जाता था (Watson, 1930)।

सीखना और सोचना साथ-साथ चलने वाली प्रक्रिया है। जैसे अनुमान करने, तुलना करने, अंतर करने या निष्कर्ष निकालने को सीखने से अलग नहीं किया जा सकता, उसी तरह सोचने को भी सीखने से अलग नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार ऐसा नहीं होता है कि पहले हम किसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं और फिर उसको सीखते हैं या पहले हम सीखते हैं और फिर निष्कर्ष निकालते हैं, उसी प्रकार ऐसा भी नहीं होता कि हम पहले सोचते हैं और फिर सीखते हैं या हम पहले सीखते हैं फिर सोचते हैं। सोचने के बिना सीखना संभव ही नहीं है। यदि कुछ सीख भी लें तो वह स्थायी नहीं हो पायेगा। शायद सीखने के बिना सोचना भी नहीं होता। यदि कुछ सीखने को नहीं हो तो हम सोचेंगे क्या? लेकिन सोचने और सीखने को साथ-साथ होने वाली दो प्रक्रियाओं - जैसे तबले पर थाप का पड़ना और घुंघरू वाले पैरों का थिरकना - की तरह नहीं समझा जाना चाहिए। इस तरह की क्रियाएं अमूमन साथ होती हैं, परन्तु अलग-अलग भी हो सकती हैं। परन्तु सोचना और सीखना अलग-अलग नहीं हो सकता। एक के अभाव में दूसरा रुक जाएगा। जैसे याद करना सोचने का भूतकाल और समझना सोचने का वर्तमान है, उसी तरह कहीं ऐसा तो नहीं कि सीखना सोचने का भविष्यकाल है?

परन्तु सोचना, समझना, याद करना और सीखना सब कुछ सहज रूप से बिना किसी विशेष प्रयास के होता कैसे है? हमारा दिमाग इन सारी क्रियाओं को एक साथ सहज रूप से बिना किसी विशेष प्रयास के कैसे कर लेता है? क्या हमारा दिमाग एक बहुकार्यन (multitasking) कम्प्यूटर की तरह काम करता है या फिर एक समानांतर प्रक्रमण (parallel processing) कम्प्यूटर की तरह जो इतने सारे अलग-अलग काम एक साथ कर लेता है? सच तो यह है कि हमारा दिमाग बहुत सारे अलग-अलग काम करने की बजाय एक ही काम कर रहा होता है। सोचने, समझने, याद करने और सीखने को अलग-अलग मानसिक प्रक्रिया की तरह देखना वर्गीकरण की समस्या है। शब्दकोष में इन चारों शब्दों के अलग-अलग होने का यह अर्थ नहीं होता कि ये चारों अलग-अलग मानसिक प्रक्रियाएं हैं। मानसिक स्तर पर तो ये सभी अर्थ निर्माण की एक ही प्रक्रिया हैं जिसे जब हम अलग-अलग परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण से देखते हैं तो अलग-अलग नाम देते हैं। सोचने, समझने, याद करने और सीखने में अंतर परिप्रेक्ष्य के अंतर के कारण बाहर की दुनिया में होता है न कि हमारे दिमाग के अन्दर। वहां तो ये सभी एक ही हैं। क्या हमारे लिए यह संभव नहीं कि हम इन सबको अलग-अलग देखने, करने और सीखने-सिखाने की कोशिश करने की बजाय सिर्फ अर्थ निर्माण पर ध्यान दें? इस आलेख का अंत कबीर की एक साखी से करना उपयुक्त लगता हैः

एक हि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।
माली सींचे मूल को, फूले फले अघाय।। ◆

लेखक परिचय : बतौर अकादमिक लीड, स्टरलाइट एडइंडिया फाउंडेशन, जयपुर में कार्यरत हैं।

संपर्क : 9660660661; kumarrajeshdigantar@gmail.com

कोरोना के बहाने

सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली पर गहराता संकट

राम सिंह हापावत

भारत में सावर्जनिक शिक्षा प्रणाली पहले से ही दम तोड़ती अवस्था में है। इसकी शुरुआत आर्थिक उदारीकरण के दौर के शुरू होने के साथ ही हो गयी थी जब विश्व बैंक ने इन शर्तों पर कर्ज दिया कि राज्य लोक कल्याण (पब्लिक वेल्फेयर) के उपक्रमों में कम निवेश करेगा और शिक्षा के सार्वभौमीकरण का लक्ष्य पैरा-टीचर इत्यादि की व्यवस्था करके भी हासिल किया जा सकता है। तत्कालीन सरकारों ने नब्बे के दशक में शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के बच्चों के लिए, जिनमें कि दो-तिहाई से अधिक लड़कियां थीं कि प्राथमिक शिक्षा के लिए नियमित औपचारिक विद्यालयों के प्रावधान को कम गुणवत्ता व अल्प बजट व अल्प संसाधनों वाले समानान्तर व सस्ते विकल्पों से बदल दिया। ये नीतिगत बदलाव अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष- विश्व बैंक द्वारा प्रस्तुत किए गए संरचनात्मक बदलाव कार्यक्रम के तहत किये गये, जिसके तहत अतिरिक्त लोन व वित्तीय मदद की शर्त थी- शिक्षा, स्वास्थ्य एवं लोक कल्याण की अन्य योजनाओं में किए जाने वाले खर्च में व्यापक कटौती। परिणाम स्वरूप भारत में गरीब व वंचित वर्गों के बच्चों की शिक्षा के लिए 1990 के दशक के दौरान विश्व बैंक प्रायोजित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) के तहत वैकल्पिक स्कूल, शिक्षा गारंटी योजना (ईजीएस) केंद्र और मल्टी-ग्रेड टीचिंग (तथाकथित नवाचार के नारे के तहत) तथा पैरा-टीचर इत्यादि समानांतर, सस्ते एवं कम गुणवत्ता वाले विकल्प डिजाइन किए गए[1]। अभी भी लगभग तीन दशकों के बाद भारत में सरकारी विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था कोई खास अच्छी स्थिति में नहीं हैं, विद्यालयों में पर्याप्त शिक्षक नहीं हैं और जो हैं वे शिक्षक पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित नहीं हैं, विद्यालयों में बुनियादी ढांचा नहीं है, तथा निगरानी और जवाबदेह तंत्र नहीं है। यानि कुल मिलाकर वहां जीवन बदलने वाली गुणवत्तापूर्ण शिक्षा नहीं है, और इसे मजबूत करने की सरकार की कोई नीतिगत मंशा भी नहीं लगती है। कोरोना महामारी ने राज्य को सार्वजनिक शिक्षा में कम निवेश हेतु दुर्भाग्य से एक और सुलभ अवसर प्रदान कर दिया है। भारत में विद्यालयों को कोरोना महामारी के चलते बंद किए हुए लगभग 9 महीने (दिसम्बर, 2020 तक) हो चुके हैं और यदि इसमें से ग्रीष्मकालीन अवकाश की अवधि निकाल दी जाए तो सभी बच्चे विद्यालय आधारित शिक्षण से पिछले लगभग 7.5 महीने से वंचित हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 'स्कूल शिक्षा और साक्षरता विभाग' के दिशा निर्देशों के अनुसार **'आउट ऑफ स्कूल'** की परिभाषा[2] देखें तो भारत में विद्यालयी शिक्षा प्राप्त करने वाले लगभग 33 लाख[3] बच्चे अभी आउट ऑफ स्कूल की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ये सभी बच्चे शिक्षा के अधिकार से भी वंचित हैं, जबकि इस अधिकार को निशुल्क प्रदान करने का दायित्व राज्य का है।

कोविड-19 महामारी से उत्पन्न इस परिस्थिति में राज्य अब ऑनलाइन शिक्षा, शिक्षा के डिजिटल माध्यमों या दूरस्थ शिक्षा को एक विकल्प के तौर पर प्रस्तुत कर रहा है जो तुलनात्मक रूप से उसके लिये एक सस्ता समाधान भी है, फलस्वरूप इसे बढ़ावा दिया जा रहा है। अभी हाल ही में केंद्र सरकार द्वारा जारी नई शिक्षा

नीति 2020[4] में भी यह बात परिलक्षित होती है, जो कि शिक्षा तक सभी की पहुंच सुनिश्चित करने के लिए तकनीक के इस्तेमाल पर विशेष जोर देती है। विभिन्न राज्य सरकारें ऑनलाइन शिक्षा, शिक्षा के डिजिटल माध्यमों या दूरस्थ शिक्षा के माध्यमों द्वारा लॉकडाउन की अवधि में भी बच्चों तक पहुंचने का दावा कर रही हैं। जबकि यदि हम ऑनलाइन, डिजिटल व दूरस्थ माध्यमों तक जन साधारण की पहुंच की बात करें तो आंकड़े इसके एकदम विपरीत कहानी कहते हैं। इस विसंगति को समझने के लिए निम्नलिखित तथ्य देखे जा सकते हैं -

- नीति आयोग के एक सर्वे (2017-18) के अनुसार, मात्र 14.9 प्रतिशत ग्रामीण और 42 प्रतिशत शहरी परिवारों के पास इंटरनेट की सुविधा उपलब्ध है। और मात्र 4.4 प्रतिशत ग्रामीण और 32.4 प्रतिशत शहरी परिवारों की पहुंच कम्प्यूटर तक है, देश में लगभग 55000 गांव ऐसे हैं जो मोबाइल नेटवर्क से बाहर हैं[5]।
- एक दूसरा सर्वे जो कि क्राय (चाइल्ड राइट्स अंड यू)[6] नामक संस्था ने चार दक्षिणी राज्यों (कर्नाटक, तमिलनाडू, आंध्रप्रदेश व तेलंगाना) में 5987 बच्चों के साथ किया, उसके अनुसार अनुसार 94 प्रतिशत बच्चों की ऑनलाइन शिक्षा के लिए स्मार्ट फोन व इंटरनेट तक पहुंच नहीं है। यह सुविधा जिन बच्चों की पहुंच में है उनमें से 55 प्रतिशत केवल सप्ताह में तीन दिन और 77 प्रतिशत के लिए यह सुविधा दिन में मात्र दो घंटे के लिए है।
- केरल जैसे शिक्षा के मामले में अग्रणी राज्य में लगभग 2.5 लाख बच्चों की न तो टीवी और न ही इंटरनेट तक पहुंच है।
- झारखंड में दुमका जिले की बनकाठी उच्च प्राथमिक शाला के 246 बच्चों में से 204 की डिजिटल उपकरणों तक पहुंच नहीं है।
- भारत में स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों की संख्या करीब 33 करोड़ हैं, इनमें से सिर्फ 10.3 प्रतिशत के पास ही ऑनलाइन पढ़ने की व्यवस्था है[7]।

जिन परिवारों में मोबाइल फोन उपलब्ध भी है तो जरूरी नहीं है कि उसमें इंटरनेट की सुविधा भी हो व बच्चों की इन उपकरणों तक पहुंच भी हो। सरकारी विद्यालयों में पढ़ने वाले लगभग सभी बच्चों की कमोबेश यही स्थिति है। यह स्थिति शिक्षा में पहले से विद्यमान असमानता की खाई को और ज्यादा बढ़ाएगी।

असमानता कोई प्राकृतिक देन नहीं है बल्कि राज्य की नीतियां, संसाधन व अवसरों की अनुपलब्धता व असमान वितरण ही इसे जन्म देती है। शिक्षा में व्याप्त असमानता बच्चों को गहरे तक प्रभावित करती हैं और यह सामाजिक व आर्थिक असमानता को और ज्यादा धारदार बना देती है। शिक्षा के लिए पर्याप्त संसाधनों की अनुपलब्धता व उन तक पहुंच न हो पाने की विवशता बच्चों को गहरी निराशा व कुंठा से भर देती है, या तो वे पलायन कर जाते हैं, या परिस्थिती से समझौता कर लेते हैं या फिर इस हद तक पहुंच जाते हैं कि अपना जीवन तक समाप्त कर लेते हैं। इसके कुछ उदाहरण और निहितार्थ देखिये। हावड़ा के राजचन्द्रपुर में एक 16 वर्षीय किशोरी, शिबानी कुमारी साहू ने ऑनलाइन क्लासेस प्राप्त न कर पाने की वजह से आत्महत्या कर ली[8]। इस बालिका के पास मोबाइल, कम्प्यूटर इत्यादि नहीं थे और उसे डर था कि ऑनलाइन कक्षाएं प्राप्त न कर पाने की वजह से वह फेल हो जाएगी। इसी तरह केरल के मल्लपुरम में एक दसवीं कक्षा की बालिका ने खुद को आग लगा कर आत्महत्या कर ली[9]। पिछड़े व दलित वर्गों से संबंधित इन बालिकाओं के घर न तो टीवी था, न ही स्मार्ट फोन व इंटरनेट की सुविधा और इनके माता-पिता दिहाड़ी मजदूर थे।

विडम्बना यह है कि 'बेटी बचाओ - बेटी पढ़ाओ' का नारा लगाने वाले इस देश में शिक्षा के लिए डिजिटल उपकरणों तक पहुंच न होने के चलते आत्महत्या वाले उक्त दोनों उदाहरण बालिकाओं के हैं, तथा दोनों ही बालिकाएं पिछड़े व दलित वर्ग से आती हैं। उक्त दोनों उदाहरण समाज में व्याप्त सामाजिक, लैंगिक एवं आर्थिक असमानता को दर्शाने के लिए पर्याप्त हैं। भारत में जहां शिक्षा में लैंगिक भेद पहले से ही (14.5 प्रतिशत)[10] है यह खबर काफी निराशाजनक है, आशंका है कि आने वाले दिनों में विद्यालयों से 15 से 20 प्रतिशत बच्चे ड्रॉप आउट हो सकते हैं। इनमें बालिकाओं की संख्या ज्यादा होगी, अतः शिक्षा में लैंगिक भेद भी और बढ़ेगा।

उक्त सभी समस्याओं से आंखें मूंदे सभी राज्य सरकारें व संबंधित शिक्षा विभाग ऑनलाइन व दूरस्थ शिक्षा के कामों में जोर-शोर से लगी हैं। ऑनलाइन माध्यमों से अभिभावकों के वाट्सएप ग्रुप बना कर शिक्षा विभाग जो शिक्षण सामग्री सरकारी विद्यालयों के बच्चों हेतु परोस रहे हैं उसकी उपयुक्तता व गुणवत्ता का सवाल भी है। यह सामग्री अव्यवस्थित है, और इधर-उधर से जो कुछ भी मिल गया उसे एकत्र कर भेजा जा रहा है, जो कि न तो व्यवस्थित है और न ही बालकों के शैक्षिक स्तरों व उनकी अकादमिक जरूरतों के अनुरूप।

इसके अतिरिक्त शैक्षिक सामग्री को मात्र अभिभावकों को प्रेषित (फारवर्ड) कर देने मात्र से शिक्षा हो गयी ऐसा नहीं माना जा सकता, बच्चों को अकादमिक मदद व मार्गदर्शन की जरूरत होती है, बच्चों ने जो कार्य किया है उस पर उन्हें व्यक्तिगत फीडबैक की आवश्यकता होती है जो इन सभी प्रयासों में पूरी तरह से नदारद है। उक्त बातों के अलावा सरकार से इस अवसर पर जो एक और सवाल पूछा जाना चाहिए वह यह है कि यदि आरटीई, 2009 के तहत 6-14 आयु वर्ग के बच्चों को अनिवार्य व निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करना राज्य का दायित्व है तो क्या बच्चों को निःशुल्क पाठ्यपुस्तकों की तरह निःशुल्क डिजिटल उपकरण व इंटरनेट की सुविधा भी राज्य द्वारा प्रदान नहीं की जानी चाहिए। यदि राज्य यह दायित्व नहीं निभाता है तो यह आरटीई, 2009 के प्रावधानों का उल्लंघन होगा।

ऑनलाइन व दूरस्थ शिक्षा माध्यमों तक पहुंच व विषय वस्तु की उपयुक्तता के अलावा ऑनलाइन शिक्षा से संबंधित कुछ अन्य दिक्कतें भी हैं। जे.के.लोन हॉस्पिटल, जयपुर के डॉ. अशोक के नेतृत्व में चिकित्सकों के एक दल द्वारा 20 शहरों में किए गए एक सर्वे[11] के अनुसार वर्चुअल शिक्षा से बच्चों की याददाश्त कमजोर होती है और बच्चे तथ्यों और सूचनाओं को अधिक समय तक याद नहीं रख पाते। इसी सर्वे में 52 प्रतिशत माता-पिता ने ऑनलाइन शिक्षा को अप्रभावी और बेकार बताया और पाया गया कि 19 प्रतिशत बच्चों का सीखने का स्तर नीचे गिर गया। इसके साथ ही ऑनलाइन शिक्षा के कुछ अन्य दुष्प्रभाव भी हैं जैसे- बच्चों में एकाग्रता की कमी, चिड़चिड़ापन, सिर दर्द, आंखों की बढ़ती कमजोरी इत्यादि।

विद्यालयी शिक्षा में तकनीक की घुसपैठ अब कोई नई बात नहीं रह गई है। विभिन्न राज्य सरकारें अपनी नीतियों में 'स्मार्ट क्लासरूम' स्थापित करने व 'डिजिटल पाठ्यसामग्री' बनाने इत्यादि की घोषणाएं कर रही हैं। जाहिर है कोरोना ने इस हेतु एक अवसर प्रदान किया है और अब यह प्रक्रिया और तेजी से बढ़ेगी। कक्षागत शिक्षण में आईसीटी[12] के इस्तेमाल को अक्सर गुणवत्ता का पर्याय मान लिया जाता है, और आईसीटी आधारित गुणवत्ता शिक्षा के नारों को बड़े जोर-शोर से उछाला जाता है। अभी लॉकडाउन के दौरान ऑनलाइन शिक्षा, शिक्षा के डिजिटल माध्यमों व दूरस्थ शिक्षा को लेकर जो थोड़ा बहुत विरोध हो रहा है वह मात्र इस बात का हो रहा है कि सभी बच्चों की इन माध्यमों तक पहुंच नहीं है, इससे सामाजिक विषमता और बढ़ेगी और बच्चों की स्वास्थ्य व सुरक्षा संबंधी अन्य दिक्कतें। ऑनलाइन व दूरस्थ शिक्षा की गुणवत्ता और इससे जुड़ी अन्य चीजों पर किसी का भी ध्यान नहीं जा रहा है। प्रारम्भिक शिक्षा में तकनीक के उपयोग से संबंधित कुछ शिक्षा शास्त्रीय समस्याएं भी हैं जो न तो किसी के संज्ञान में हैं और न ही इस पर कोई खास चर्चा हो रही है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक सीएनआर राव, ऑनलाइन शिक्षा को ज्ञान मीमांसा और सीखने के सिद्धांतों पर हमला करार देते हैं, उनका कहना है कि ऑनलाइन शिक्षा, शिक्षा की डिजिटल व्यवस्था व दूरस्थ शिक्षा माध्यम बच्चों के मनो-मस्तिष्क को प्रभावित करने में सक्षम नहीं हैं, उनका मानना है कि बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं में एक प्रत्यक्ष मानवीय हस्तक्षेप और परस्पर संवाद का होना जरूरी है[13]।

बच्चों का निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा का अधिकार कानून, 2009 शिक्षण विधियों के बारे में अनुशंसा करता है कि प्रारम्भिक कक्षाओं में सीखना-सिखाना एक बालकेन्द्रित एवं बालमित्र वातावरण में गतिविधि आधारित, खोजबीन और जांच-पड़ताल इत्यादि शिक्षण विधियों के माध्यम से होना चाहिये[14]।

शिक्षाविद् खासकर प्रारम्भिक कक्षाओं में बच्चों के लिए अनुभव आधारित (एक्सपिरीएन्शियल लर्निंग) शिक्षण की बात करते हैं जिसमें बच्चों को खोजबीन करने, जांच-पड़ताल करने व अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों को काम में लेने, विश्लेषण करने व अपना मत रखने का मौका मिले, अर्थात बच्चों को ज्ञान निर्माण की प्रक्रियाओं से गुजरने के मौके मिलें।

ये शिक्षण विधियां बालक को आगे चल कर सीखने में आत्मनिर्भर होने में मदद करती हैं। साथ ही शिक्षा केवल अकादमिक कौशल प्राप्त करना नहीं है, बल्कि मानवीय संवेदनाओं व मूल्यों का विकास भी शिक्षा के जरिये ही संभव है जो कि शिक्षक - बालक एवं बालक - बालक के मध्य प्रत्यक्ष अन्तरक्रिया के अभाव में मुश्किल है। वर्तमान ऑनलाइन शिक्षा, शिक्षा के डिजिटल माध्यम व दुरस्थ शिक्षा प्रयासों में उक्त सभी पक्षों का अभाव तो है ही, साथ ही ये प्रणालियां बच्चों को मात्र एक निष्क्रिय संग्रहकर्ता (passive receptor) के तौर पर ही देखती हैं।

एनसीएफ, 2005[15] शिक्षा में तकनीक के उपयोग के प्रति सतर्क रहने व इसके विवेकपूर्ण इस्तेमाल की बात करता है। शिक्षक व बच्चों को तकनीक के उपभोक्ता की भांति नहीं देखना चाहिए और यदि ऐसा होता है तो तकनीक के अत्यधिक उपयोग को हतोत्साहित किये जाने की आवश्यकता है। एनसीएफ, 2005 के अनुसार परस्पर अन्तरक्रिया, अंतरंगता व आत्मीयता गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के मुख्य आधार स्तम्भ हैं।

ऐसा नहीं है कि शिक्षा में तकनीक का उपयोग नहीं किया जा सकता या नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन कब, किस स्तर पर व कितना किया जाना चाहिए इन प्रश्नों के उत्तर हमें ढूंढ़ने चाहिये। शिक्षा में तकनीक का इस्तेमाल शैक्षिक प्रबंधन, शिक्षण योजना बनाने, मूल्यांकन व बच्चों की प्रगति का विवरण इत्यादि रखने में किया जा सकता है। लेकिन छोटे बच्चों, खासकर प्रारम्भिक कक्षाओं में तो शिक्षण परस्पर संवाद व अन्तरक्रिया व अनुभव आधारित शिक्षण पद्दतियों के जरिये ही होना चाहिए। तकनीक का उपयोग बच्चों को कक्षा-कक्ष में उन अनुभवों को प्रदान करने में भी किया जा सकता है जो बच्चे के आस-पास के वातावरण (इमिडीएट सराउंडिंग) में उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही शिक्षकों के क्षमतावर्धन, उपयुक्त विषय वस्तु व संदर्भ सामग्री तक उनकी पहुंच बढ़ाने के लिए भी तकनीक का प्रयोग किया जा सकता है, ताकि शिक्षक बेहतर शिक्षण योजना बना पाएं।

लेकिन केंद्र व विभिन्न राज्य सरकारें अभी इन सब चिंताओं के प्रति आंखे मूंदे हुए हैं। अभी हाल ही में मानव संसाधन मंत्री ने लॉकडाउन के दौरान जून में आयोजित एक ऑनलाइन सत्र में पहले तो जमकर अपनी सरकार का गुणगान किया, पिछली सरकारों और उस समय के मंत्रियों व नौकरशाहों को जम कर कोसा, उन्हें अयोग्य होने का तमगा प्रदान किया और फिर कहा कि पहली बार योग्य और पेशेवर व्यक्ति जिम्मेदार पदों पर हैं जो कि शिक्षा कि गहरी समझ रखते हैं और बस अब सार्वजनिक शिक्षा का कायाकल्प होने ही वाला है। जाहिर है शिक्षा में व्याप्त समस्याओं और शिक्षा के कायाकल्प का उनका अपना ही कोई विजन रहा होगा, और इस विजन का संकेत उनके निम्न कथनों में टटोला जा सकता है। उन्होंने पौराणिक काल के गुरुकुलों को स्मरण किया और कहा कि 'हम तो पहले ही कहते थे कि शिक्षा की जिम्मेदारी समाज को स्वयं लेनी चाहिए'। और इस हेतु उन्होंने बड़ा मजेदार तर्क पेश किया, उन्होंने कहा कि मान लो यदि सरकार सबको घर-घर नमक पहुंचाने की जिम्मेदारी ले तो क्या इतने विशाल देश में यह सब कर पाना सरकार के लिए संभव है? गुरुकुल शिक्षा व्यवस्था और नमक का उदाहरण वास्तव में इस बात के संकेत थे कि राज्य शनैः शनैः अपनी जिम्मेदारी से हटता जाएगा और समाज को अपने बच्चों हेतु शिक्षा की व्यवस्था खुद ही करनी होगी। ऐसा नहीं है कि यह सब सिर्फ इस सरकार के कार्यकाल में ही हो रहा है इसकी पूर्ववर्ती सरकारों के समय भी एसा ही कुछ हुआ है। एक और मजेदार बात मानव संसाधन विकास मंत्री जी ने कही कि हम तो पहले ही कहते थे कि 'दूरस्थ और डिजिटल माध्यमों से शिक्षा ही उचित समाधान है'। मानव संसाधन मंत्री द्वारा कही गई इन सब बातों के गहरे निहितार्थ हैं; एक- आगे आने वाले दिनों में सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की जिम्मेदारी से पीछे हटने के सरकार के उपक्रम और तीव्र होंगे और इसमें निवेश भी, दो- ऑनलाइन शिक्षा व दूरस्थ शिक्षा व्यवस्था से

चिर-परिचित शिक्षा में 'पहुंच' का सवाल हल कर लिया जाएगा। लिहाजा ऑनलाइन शिक्षा और शिक्षा तकनीक का व्यवसाय करने वाली कंपनियों व व्यापारियों की बांछे खिली हुई हैं और वे अचानक से शिक्षाविद् बन बैठे हैं। और इन ऑनलाइन शिक्षा व डिजिटल उपकरणों का व्यवसाय करने वाली कंपनियों व व्यापारियों से प्राप्त अनुदानों पर जिंदा रहने वाली स्वयंसेवी संस्थाएं ऑनलाइन डिजिटल उपकरणों से शिक्षा की प्रभाविकता और पहुंच के बारे में विरुदावलियां पढ़ने में व्यस्त हैं और 'यही श्रेष्ठ है' का राग आलाप रही हैं और जो नहीं हो सकता उसके लिए प्रमाण पेश कर रही हैं। क्या हम सार्वजनिक शिक्षा की दुर्दशा व इसके निरंतर खत्म होते जाने को चुपचाप मूकदर्शक बने देखते रहेंगे? ◆

लेखक परिचय : लगभग 20 वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में हैं और वर्तमान में सेव द चिल्ड्रन संस्था में कार्य कर रहे हैं।

संपर्क : 9958703999; ram_siddarth8@rediffmail.com

संदर्भ

1. https://educationforallinindia.com/anilsadgopalnew.htm Frontline Volume 20, Issue 24, 2003
2. डी.ओ.एन. 12-2/2012 ईई 11 (6-14 आयु वर्ग का कोई बालक यदि 45 दिन या उससे अधिक दिनों से विद्यालय से अनुपस्थित हो तो वह ड्रॉप आउट या आउट ऑफ स्कूल माना जाएगा।)
3. एक अनुमान, दैनिक भास्कर
4. नई शिक्षा नीति, 2020, 23.5, पेज न.57
5. नीति आयोग रिपोर्ट 2017-18
6. द इंडियन एक्सप्रेस, 17 अगस्त, 2020
7. दैनिक भास्कर
8. टाइम्स ऑफ इंडिया, 20 जून, 2020
9. एनडीटीवी.काम/इंडिया-न्यूज, 02, जून, 2020
10. भारत में शिक्षा पर पारिवारिक सामाजिक उपभोग, एनएसए, रिपोर्ट 2017-18
11. दैनिक भास्कर, 22 जून, 2020
12. इन्फॉर्मेशन कम्युनिकेशन टेक्नालजी
13. हिंदुस्तान टाइम्स, जून 2, 2020
14. शिक्षा का अधिकार कानून, 2009, चैप्टर वी (2) इ,
15. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, 5.5.3, पेज न. 121

शिक्षक-आंदोलन और सामाजिक सक्रियता के अन्य पड़ाव*

श्याम नारायण मिश्र

भाग-I

युवक, क्या तुम शिक्षक बनोगे : शिक्षक आंदोलन की चुनौतियां

1940 और 50 के दशक में जब मैं विद्यार्थी था तब हाई स्कूल प्रायः जिला मुख्यालयों, रेलवे स्टेशनों के आस-पास या किसी बड़े ज़मींदार की हवेली से लगे बाज़ारों में ही हुआ करते थे। आज़ादी के बाद 1960 और 70 के दशक में गांव-गांव में जन सहयोग से विद्यालय खुलने लगे। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा का प्रसार तो हुआ, लेकिन इन विद्यालयों में काम करने वाले शिक्षकों की स्थिति बद से बदतर होती चली गई। बहुत सारे पढ़े-लिखे युवाओं ने बेहतर भविष्य की उम्मीद में इन विद्यालयों में शिक्षक के रूप में काम करना शुरू किया था। उनमें से अनेक लोगों के मन में शिक्षा के प्रति अनुराग भी था और आगे बढ़ने की ललक भी। वे अपना भला भी चाहते थे और समाज का भी, लेकिन अधिकांश ग्रामीण स्कूलों में शिक्षकों का स्वयं का भविष्य अनिश्चित था। विद्यालय के पास आय के स्रोत सीमित थे इसलिए वेतन समय पर और पूरा मिल नहीं पाता था। सरकार की ओर से यथोचित सहयोग मिल नहीं रहा था। इस बीच जिन शिक्षकों ने अपनी युवा अवस्था में इस पेशे को चुना था उनकी ज़िम्मेवारियां बढ़ रही थीं। इन्हीं परिस्थितियों में शिक्षक धीरे-धीरे संगठित होने लगे और दो दशकों के सांगठनिक कार्य और एकाधिक आंदोलनों के बाद अंततः 1980 में बिहार के माध्यमिक विद्यालयों का सरकारीकरण हुआ।

शिक्षक-संघ के सांगठनिक क्रियाकलापों में मैं निरंतर सक्रिय रहा। जैसा कि पहले के अध्यायों में वर्णित हुआ, मुझे एक समय केन्द्र सरकार की नौकरी भी मिली जिसमें नियमित वेतन भुगतान और पदोन्नति की गारंटी थी, लेकिन उस नौकरी के दौरान एकाध साल के भीतर ही मुझे यह समझ में आ गया कि अध्यापन के अलावा और किसी काम में मेरा मन नहीं रमेगा। ऐसी स्थिति में जब मैं अपनी स्थिति और अपने साथी अध्यापकों की स्थिति पर गौर करता था तो मन में कचोट-सी उठती थी। इन्हीं भावनाओं के साथ मैं शिक्षक-संघ की गतिविधियों में निरंतर सक्रिय रहता था। शिक्षक-संघ के साथ जुड़ाव ने मुझे विद्यालय के बाहर की दुनिया से जोड़े रखा। इन आंदोलनों ने मुझे निरंतर लिखने-पढ़ने की प्रेरणा भी दी। इस दौरान मेरी रचनाएं प्रकाशित होती रहीं और कई बड़े मंचों से हजारों शिक्षक साथियों के समक्ष कविता पाठ का मौका भी मिला।

शिक्षक-संघ पहले से ही मौजूद था, लेकिन उसमें ग्रामीण शिक्षकों की सक्रियता बढ़ती चली गई। शहर के स्कूलों के शिक्षक भी शिक्षक-संघ के सदस्य होते थे, लेकिन वे संघ की गतिविधियों में बहुत रुचि नहीं लेते थे। शहर के स्कूलों में प्रायः वेतन आदि का भुगतान नियमित रूप से हो जाता था। शहर के बहुत सारे स्कूल

* यह अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित अध्यापक श्याम नारायण मिश्र की आत्मकथा का एक अंश है। पुस्तक के बारे में विस्तृत ब्यौरा अगले पृष्ठ पर है।

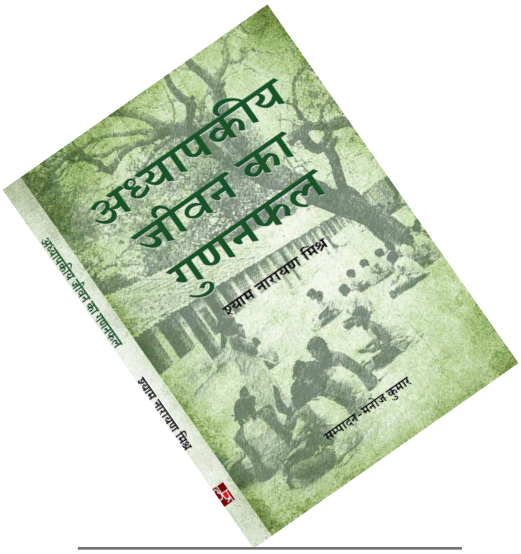

पुस्तक : अध्यापकीय जीवन का गुणनफल
लेखक : श्याम नारायण मिश्र
संपादन : मनोज कुमार
मूल्य : 200 रुपये (पेपर बैक)
प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली

पुस्तक मंगवाने के लिए 9205155356 वाट्सअप करें या लिंक पर जाकर अमेजन से खरीद सकते हैं : https://www.amazon.in/dp/B08JLWRN44

राजकीय स्कूलों की श्रेणी में आते थे और उनके शिक्षक राज्य के कर्मचारी माने जाते थे। उन स्कूलों के अलावा अगर शहरों के कुछ स्कूल राजकीय श्रेणी के स्कूल नहीं भी थे तब भी उन स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या अधिक होती थी। विद्यार्थियों की अधिक संख्या होने के कारण उन स्कूलों में संसाधनों की उतनी कमी नहीं थी। इस परिस्थितिवश शिक्षक-संघ से क्रमशः ग्रामीण शिक्षकों का जुड़ाव बढ़ता गया और शिक्षक-आंदोलन को नई ऊर्जा मिली।

संघ के कार्यों में मेरी सक्रियता विशेष रूप से 1968 के बाद बढ़ी। उस वर्ष उच्च विद्यालय, समर्था में शिक्षक-संघ की प्रखंड स्तरीय आम सभा आयोजित की गई। उस बैठक में मुझे अगले सत्र के लिए निर्विरोध प्रखंड अध्यक्ष चुना गया। उसके बाद से मैंने संघ के कार्यों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। मेरे सम्मुख संघ का जो भी कार्य आता था मैं उसे पूरी तत्परता से करता था। फलस्वरूप दो वर्ष बाद 1970 में मुझे रोसड़ा अनुमंडल का अध्यक्ष निर्विरोध चुना गया। जब अनुमंडल अध्यक्ष के रूप में मेरा पहला कार्यकाल समाप्त हुआ तो मैंने उच्च विद्यालय कुशेश्वर नामक स्थान में शिक्षक संघ की सभा बुलाई। इस बैठक में जब अगले सत्र के लिए अध्यक्ष पद के लिए मेरे नाम का प्रस्ताव आया तो कुछ विरोध के स्वर भी उभरे। विरोध करने वाले लोगों का कहना था कि शिक्षक-संघ के अध्यक्ष के रूप में मैं विद्यालयों का भ्रमण नहीं करता हूं। साथ ही कार्यालय के काम में शिक्षकों को जब समस्याओं का सामना करना पड़ता है तब मैं उनकी मदद नहीं कर पाता हूं। इस आरोप में आंशिक सच्चाई थी। अपने विद्यालय में व्यस्त होने के कारण मैं अलग-अलग स्कूलों का भ्रमण नहीं कर पाता था। जब बोलने की मेरी बारी आई तो मैंने शिक्षकों के आरोप को ख़ारिज नहीं करते हुए उन्हें अपनी सीमाओं से अवगत करवाया। मैंने कहा कि अनुमंडल अध्यक्ष होने के साथ-साथ मैं एक विद्यालय का प्रधानाध्यापक भी हूं, इसलिए मैं तमाम स्कूलों में निरंतर नहीं घूम सकता हूं। मैंने उनसे कहा कि हमें आपस में लगातार जीवंत संपर्क बनाए रखने के लिए डाक-तार विभाग का सहारा लेना चाहिए। आप अगर किसी समस्या का सामना कर रहे हैं तो मुझे एक पोस्टकार्ड भेज दीजिए। मैं यथाशीघ्र आपसे संपर्क कर के पूरी तत्परता से आपकी मदद करूंगा। मेरी बातों से शिक्षक काफी हद तक सहमत हुए।

साथियों की दूसरी शिकायत थी कि मैंने पिछले चुनाव के समय कहा था कि रोसड़ा में शिक्षक-संघ भवन के लिए ज़मीन खरीद ली जाएगी और अब तक इस दिशा में कुछ नहीं हुआ है। मैंने कहा, अगर सभी शिक्षक साथी इस काम के लिए अपने एक दिन का वेतन दे दें तो ज़मीन खरीदने में कोई दिक्कत नहीं होगी। इस प्रस्ताव पर तत्काल सबकी सहमति बन गई। सभी शिक्षक साथियों ने कहा कि वे लोग उसी महीने अपने एक दिन का वेतन दे देंगे। मैंने जवाब में कहा कि आप लोग समझ लीजिए कि ज़मीन ख़रीद ली गई। इस बातचीत के बाद मेरे नाम पर एक बार फिर से सहमति बन गई और मुझे एक बार फिर सर्वसम्मति से अनुमंडल अध्यक्ष चुन लिया गया। वापस आकर मैंने चंदे की रसीद छपवाई और स्कूलों को भिजवा दी। शिक्षकों ने पूरी तत्परता से एक दिन के वेतन के बराबर चंदा भिजवा दिया और रोसड़ा अनुमंडल भवन के लिए ज़मीन ख़रीद ली गई।

जिला माध्यमिक शिक्षक संघ, समस्तीपुर के पास भी ज़मीन नहीं थी। मेरे विद्यालय के सचिव रामनंदन बाबू का एक प्लॉट समस्तीपुर के एक सिनेमा हॉल के पास था। मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे अपना प्लॉट शिक्षक-संघ के लिए दान कर द.। उन्होंने कहा कि वे दान तो नहीं कर पाएंगे, लेकिन अगर संघ उस ज़मीन की कीमत दे दे तो किसी अन्य व्यक्ति को बेचने की अपेक्षा संघ को ज़मीन देना वे पसंद कर.गे। अंततः संघ को वह ज़मीन मिल गई। आज जिला माध्यमिक शिक्षक संघ, समस्तीपुर का जो भवन है वह उसी ज़मीन पर खड़ा है।

संघ के प्रति मेरी निष्ठा के कारण ही मुझे समस्तीपुर जिला माध्यमिक शिक्षक संघ की ओर से राज्य कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में चुना गया। बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ की कार्यकारिणी में बिहार के प्रत्येक डिस्ट्रिक्ट से एक कार्यकारिणी सदस्य होता था। बिहार राज्य माध्यमिक शिक्षक संघ को राज्य के समस्त शिक्षकों के कल्याण के लिए कार्यक्रम की रूपरेखा बनानी पड़ती थी। जिस समय मैं राज्य की कार्यकारिणी का सदस्य था उस समय श्री जगदीश शर्मा माध्यमिक शिक्षक संघ, बिहार के अध्यक्ष थे और चंद्रेश्वर नारायण सिंह सचिव थे। संघर्ष और आन्दोलन के अलावा राज्य की कार्यकारिणी में शिक्षा के स्तर में सुधार पर भी बात. होती थीं। शैक्षणिक कार्यक्रम के संचालन के लिए प्रत्येक जिला में शिक्षा-गोष्ठी नाम की एक इकाई होती थी। प्रत्येक जिला में किसी शिक्षक को शिक्षा-गोष्ठी का अध्यक्ष चुना जाता था। शिक्षा-गोष्ठी का कार्य शिक्षा में सुधार पर विचार करना होता था। जिला स्तर से जो सुझाव आते थे उन पर राज्य की कार्यकारिणी में विचार होता था। शिक्षा में सुधार के साथ-साथ शिक्षक-आंदोलन की रणनीतियों पर भी चर्चा होती थी और प्रायः ऐसी चर्चाओं में असहमति के स्वर भी उभरते थे। ऐसा एक प्रसंग मुझे याद है। एक बैठक में सचिव चंद्रेश्वर नारायण सिंह जी ने यह प्रस्ताव दिया कि शिक्षक उस वर्ष माध्यमिक बोर्ड की परीक्षा की कॉपी जांचने में सहयोग नहीं करेंगे और मूल्यांकन की तिथि से ही शिक्षक आंदोलन पर चले जाएंगे। सरकार को शिक्षकों की समस्याओं के प्रति आगाह करने के लिए यह प्रस्ताव कार्यकारिणी के समक्ष प्रस्तुत हुआ था। इस प्रस्ताव पर कार्यकारिणी में दो प्रकार के विचार थे। कुछ सदस्य इससे सहमत थे जबकि अन्य सदस्यों को लग रहा था कि इससे शिक्षकों का तात्कालिक हित प्रभावित होगा जिसकी वजह से बहुत सारे शिक्षक इससे ख़ुश नहीं होंगे। दरअसल कॉपी जांचने के एवज़ में शिक्षकों को कुछ पारिश्रमिक मिल जाता था। उस समय वेतन का भुगतान अनियमित था इसलिए इस तरह की राशि शिक्षकों के लिए मायने रखती थी। आख़िर जब इस प्रस्ताव पर सहमति नहीं बनी तब इसके लिए वोटिंग हुई। कार्यकारिणी में बहुमत से यह प्रस्ताव पारित हो गया। जो शिक्षक इस प्रस्ताव पर सहमत नहीं थे उन्होंने इस पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया। पुनर्विचार के बाद लगातार तीसरी बार भी अधिक वोट सचिव के प्रस्ताव के समर्थन में ही आए। मैं भी इस प्रस्ताव के विरोध में था। अंत में मैंने कहा कि राज्य की कार्यकारिणी से अधिक सक्षम पार्षदों की कमिटी है। चूंकि इस प्रस्ताव पर कुछ साथियों का ज़ोरदार विरोध है इसलिए पार्षदों की कमिटी के समक्ष इसे विचार के लिए रखा जाना चाहिए। मेरी यह बात मान ली गई। इस प्रस्ताव पर पार्षदों ने विचार किया और उस कमिटी में यह पारित नहीं हुआ। अन्ततः मूल्यांकन की तिथि से आंदोलन शुरू नहीं हुआ।

बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ का कार्यालय जमाल रोड, पटना में है। वहां माध्यमिक शिक्षक संघ के सभी सदस्यों के ठहरने की अच्छी व्यवस्था है। माध्यमिक शिक्षक संघ की तरफ से तब 'प्राच्य-प्रभा' नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी। उस पत्रिका में मेरी एक कहानी 'संन्यासी' प्रकाशित हुई थी। मेरी एक कविता उन दिनों काफी लोकप्रिय हुई थी 'युवक! क्या तुम शिक्षक बनोगे?' इस कविता का पाठ मैंने सबसे पहले छपरा में आयोजित माध्यमिक शिक्षक संघ के राज्य सम्मेलन में किया था।

कविता लम्बी थी। कविता के प्रत्येक चरण में वाचक अध्यापन कर्म के किसी पहलू को रेखांकित करते हुए युवक से आग्रहपूर्वक पूछता है कि क्या वह शिक्षक बनना चाहेगा। युवक उत्तर में हमेशा कुछ और बनने की इच्छा जाहिर करता है। वाचक कहता है कि शिक्षक ज्ञान की गठरी को खोलकर लोगों के सामने प्रस्तुत करता है। युवक को लगता है कि अगर ज्ञान की ही बात करनी है तो वह मठाधीश बनेगा और प्रवचन करेगा। वाचक कहता है कि शिक्षक की नेतृत्वकारी भूमिका भी है- वह लोगों को आगे की राह बताता है। युवक कहता है कि अगर नेतृत्वकारी भूमिका का ही निर्वाह करना है तो मुझे नेता और मंत्री ही बनवा दो।

युवक! क्या तुम शिक्षक बनोगे?
शिक्षक पढ़ता है
सुबह-शाम लिखता है
ज्ञान की गठरी खोल
युग को बिखेरता है

युवक! क्या तुम शिक्षक बनोगे?

नहीं जी।
मुझे तो मठाधीक्षक बना दो
मठ में बैठकर

हलवा-पूड़ी खाऊंगा
अंधभक्त टोली पर मांग फरमाऊंगा
अगर कोई शिष्य बन जाए तो
मालोमाल हो जाऊंगा।

शिक्षक नेता है
शिक्षक प्रणेता है
शिक्षक जन-मन चेता है
युवक! क्या तुम शिक्षक बनोगे?

नहीं जी।
मुझे तो मंत्री बनवा दो
सभा में बैठ कर मंच हिलाऊंगा
बजट एलोकेशन में
लाखों कमाऊंगा

कविता के अंतिम हिस्से में शिक्षकों के लिए मंच से होने वाले 'गुरूर ब्रह्मा गुरूर विष्णु, गुरूर देवो महेश्वरः' जैसे आलंकारिक उद्‌बोधन का हवाला देकर युवक से पूछा गया कि क्या वह शिक्षक बनना चाहेगा। युवक पर इस आलंकारिकता का कोई असर नहीं पड़ता है :

शिक्षक ब्रह्मा है
शिक्षक विष्णु है
युवक! क्या तुम शिक्षक बनोगे?

नहीं जी। मुझे तो टिकट चेकर बना दो
अलुआ की बोरी से, बैगन की झोरी से
चवन्नी बनाऊंगा*
आठ आने पैसे में पहलेजाघाट** पहुंचाऊंगा।

इस कविता में लक्षित व्यंग्य पर श्रोताओं का समूह हंस पड़ता था, लेकिन इसमें मेरी पीड़ा भी व्यक्त हुई थी। जैसा कि पिछले अध्यायों में मैंने जिक्र किया है कि वेतन आदि की दृष्टि से कुछ बेहतर विकल्प होते हुए भी मैंने अध्यापन को अपना पेशा बनाया। पोस्ट ऑफिस की नौकरी करने गया तो मन नहीं लगा। मन अध्यापन में ही रमा हुआ था इसलिए वहां से लौट आया। मेरी पीड़ा थी कि क्या भविष्य में प्रतिभाशाली युवक स्वेच्छा से अध्यापन को एक उद्यम के रूप में चुनेंगे। यह पीड़ा आज भी है। चूंकि बेरोजगारी बहुत है इसलिए अध्यापकों की जब नियुक्ति होती है तब अभ्यर्थियों का तांता लग जाता है, लेकिन अगर अभ्यर्थियों के पास आज पोस्ट ऑफिस या रेलवे में क्लर्क की नौकरी

---

* उत्तर बिहार के पैसेंजर ट्रेन में सब्जी की बोरी ढोने वाली सवारियों से टिकट चेकर पैसे वसूलते थे। यह आम दृश्य था।

** जब गंगा पर महात्मा गांधी सेतु नहीं बना था तब उत्तर-बिहार से पटना जाने के लिए पहले पहलेजाघाट आना पड़ता था और वहां से पटना के महेन्द्रू घाट के लिए स्टीमर चलता था। उत्तर-बिहार से बहुत सारी ट्रेनें पहलेजाघाट तक आती थीं। इन रेलगाड़ियों में बिना टिकट यात्रा करने वाले यात्रियों से टिकट चेकर पैसे वसूलते थे।

का भी विकल्प हो तो क्या वे शिक्षक बनना चाहेंगे? इन्हीं प्रश्नों के साथ और अध्यापन-कर्म से लगाव के कारण मैं शिक्षक आंदोलन से जुड़ा रहा। प्रत्येक वर्ष माध्यमिक शिक्षक संघ का राज्यस्तरीय वार्षिक सम्मेलन किसी शहर में आयोजित होता था। मैं प्रायः सभी सम्मेलनों में भाग लेने जाता रहा। जहां तक मुझे याद है मैंने छपरा, धनबाद, जमशेदपुर, लखीसराय, पूर्णिया आदि में आयोजित राज्यस्तरीय वार्षिक सम्मेलनों में भाग लिया।

माध्यमिक विद्यालयों का सरकारीकरण

शिक्षक आंदोलन क्रमशः माध्यमिक विद्यालयों के सरकारीकरण की मांग पर क.द्रित होता चला गया। राज्य में कुछ गिने-चुने राजकीय विद्यालय थे। बड़ी संख्या में विद्यार्थी गैर-राजकीय विद्यालयों में पढ़ते थे और अधिकांश शिक्षक उन्हीं विद्यालयों में कार्यरत थे। ये विद्यालय सामुदायिक प्रयासों से स्थापित हुए थे और इन्हें सरकार की ओर से सीमित सहयोग मिलता था। समय आ गया था कि सरकार अब इन विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों और कार्यरत शिक्षकों की पूरी ज़िम्मेवारी लें।

स्कूलों के सरकारीकरण की मांग को लेकर पहला बड़ा प्रदर्शन 12 अगस्त, 1975 को दिल्ली के वोट क्लब पर हुआ। उस समय अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षक-संघ के महासचिव समस्तीपुर के ई. एच. स्कूल के प्रधानाध्यापक वृंदाप्रसाद सिंह 'वीरेन्द्र' थे इसलिए शिक्षक-संघ के समस्तीपुर इकाई को ही इस प्रदर्शन का नेतृत्व करना था। मैं समस्तीपुर से राज्य कार्यकारिणी का सदस्य था और इस इकाई का एक सक्रिय सदस्य था। मैं समस्तीपुर के पांच अन्य साथियों के साथ इस प्रदर्शन में भाग लेने दिल्ली गया। दिल्ली में तब श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार थी। प्रदर्शन में लगभग अलग-अलग राज्यों से दस हज़ार शिक्षक शामिल हुए। इंडिया गेट से राष्ट्रपति भवन तक शिक्षकों का मार्च हुआ। इस मार्च में दो नारे प्रमुखता से लगाए जा रहे थे :

एक मात्र है मांग हमारी
हाई स्कूल करो सरकारी

इन्दिरा तेरे समाजवाद में
शिक्षक भूखे मरते हैं

इस मार्च के बाद वोट क्लब पर शिक्षकों की एक सभा हुई जिसे अलग-अलग प्रांतों से आए प्रतिनिधियों ने सम्बोधित किया। सबने विद्यालयों के सरकारीकरण के पक्ष में अपने-अपने तर्क रखे और सरकार से इस मांग को स्वीकार करने की अपील की।

उन दिनों मेरा मित्र रामकृपाल राज्य सभा का सदस्य था। मैं और समस्तीपुर से गए मेरे साथी शिक्षक रामकृपाल के सांसद आवास पर ही ठहरे हुए थे। प्रदर्शन के बाद हम लोगों ने आगरा का ताजमहल देखा और मथुरा जाकर भगवान कृष्ण के दर्शन भी किए। आगरा और मथुरा के संक्षिप्त भ्रमण के बाद हम लोगों ने 15 अगस्त, 1975 को लालकिला पर झंडारोहण देखा। हम लोगों ने 14 अगस्त की रात को मथुरा से दिल्ली के लिए ट्रेन पकड़ी थी। 15 की सुबह हम लोगों ने दिल्ली रेलवे स्टेशन से लालकिला के लिए प्रस्थान किया। लालकिला के सामने का मैदान खचाखच भरा हुआ था। लोग 'भारतमाता की जय' के नारे लगा रहे थे। झंडारोहण के बाद प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी का भाषण हुआ। भाषण के अंत में श्रीमती गांधी ने बुलंद आवाज में 'जय हिन्द' का नारा लगाया। जवाब में उपस्थित जनसमूह ने एक स्वर में 'जय हिन्द' का नारा लगाया। 'जय हिन्द' के नारे से लालकिले के सामने का परिसर गूंज उठा। नारा लगाने वालों में हम भी शामिल थे। मैंने सोचा कि अभी तीन दिन पहले हम लोग इन्दिरा गांधी के विरुद्ध नारा लगा रहे थे और आज इन्दिरा गांधी के साथ नारा लगा रहे हैं। लेकिन शायद यही भारत के लोकतंत्र की ख़ूबसूरती भी है।

दो-तीन साल बाद फिर अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षक संघ का दिल्ली में प्रदर्शन हुआ। समस्तीपुर से कुल सोलह शिक्षकों ने इस प्रदर्शन में हिस्सा लिया। इस बीच दिल्ली में सरकार बदल चुकी थी। जनता पार्टी की सरकार थी।

प्रधानमंत्री थे श्री मोरारजी देसाई। भाई रामकृपाल मोरारजी देसाई की सरकार में श्रम राज्य मंत्री थे। इस बार भी हम लोगों ने रामकृपाल के आवास पर ही डेरा जमाया। प्रदर्शन के बाद आगरा-मथुरा जाने का कार्यक्रम फिर बना, लेकिन इस बार हम लोगों ने वृन्दावन, बरसाने की तरफ अधिक समय बिताया। नन्दगांव, बरसाने की पहाड़ी पर राधा की सुन्दर मूर्ति देखने का मौका मिला। साथ ही हम लोगों ने ब्रज के गांव देखें। एक के ऊपर एक तीन-तीन मटकी सिर पर रखकर ब्रज की स्त्रियों को पानी भरकर लाते हुए हमने देखा।

दिल्ली में आयोजित प्रदर्शनों से शिक्षक-आन्दोलन को ताकत अवश्य मिली, लेकिन विद्यालयों के सरकारीकरण की असली लड़ाई राज्य स्तर पर लड़ी गई। इस बीच सरकार बदल चुकी थी। बिहार में जनता पार्टी की सरकार के मुख्यमंत्री थे रामसुन्दर दास। नए मुख्यमंत्री के सामने कई बार सरकारीकरण की मांग रखी गई, लेकिन उन्होंने उसे अनसुना किया। अंत में सरकारीकरण के लिए सरकार पर दबाव बनाने के उद्देश्य से बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ ने जेल भरो अभियान का आह्वान किया। इस बीच मैंने साखमोहन स्कूल से अपना स्थानांतरण दरभंगा के मनीगाछी प्रखंड में स्थित एक विद्यालय में करवा लिया था। इस स्थानांतरण की चर्चा कुछ विस्तार से अगले किसी अध्याय में होगी, बहरहाल संघ के कामों में मेरी सक्रियता यहां भी बनी रही। मैंने अपने नए विद्यालय के अध्यापकों की मीटिंग बुलाई और कहा कि जेल भरो अभियान में हमें भी शामिल होना चाहिए। विद्यालय के दो अध्यापक श्री भरत यादव और राजेन्द्र मंडल ने कहा कि अगर आप हम लोगों के साथ चलेंगे तो हमें जेल जाने में कोई दिक्कत नहीं है। मैं भी तैयार हो गया और हम तीनों ने पटना की ट्रेन पकड़ी।

जब हम लोग पटना पहुंचे तो हमने देखा कि गांधी मैदान में जेल जाने वाले शिक्षकों की भीड़ उमड़ी हुई है। दूसरी तरफ सरकार की तरफ से भी पूरी तैयारी थी। पुलिस की बंदोबस्ती थी और बिहार राज्य परिवहन निगम की बस. कतार में खड़ी थीं। घोषणा की गई कि जिन लोगों को जेल जाना है वे बस में बैठ जाएं। शिक्षक-संघ के पदाधिकारियों की ओर से निर्देश आया कि एक जिला के शिक्षक एक साथ इकट्ठा होकर बस में बैंठ.। बसें गांधी मैदान से चलीं तो दानापुर स्टेशन पर जाकर रुकीं। वहां से हम लोगों को जेल ले जाने के लिए स्पेशल ट्रेन की व्यवस्था की गई थी। प्रत्येक जिले के अध्यक्ष और सचिव अपने-अपने जिले के शिक्षकों के साथ ट्रेन में सवार होने लगे। जिला शिक्षक संघ, दरभंगा की ओर से जेल जाने वाले शिक्षकों को खाने के लिए दो-दो केले दिए गए। मैं इससे पूर्व कभी जेल नहीं गया था। सरकार की ओर से किसी प्रकार की कोई बाध्यता नहीं थी। शिक्षक स्वेच्छा से जेल जा रहे थे। गाड़ी में बैठकर ऐसा अनुभव हो रहा था कि हम लोग किसी यात्रा पर जा रहे हैं। गाड़ी खुली और भागलपुर जंक्शन पर रात के ग्यारह बजे पहुंची।

ट्रेन में पुलिस के दो-तीन सिपाही थे। शिक्षकों से कहा गया कि उन्हें सुबह जेल ले जाया जाएगा। रात में उन्हें स्टेशन पर ही विश्राम करने के लिए कहा गया। मैं पोस्ट ऑफिस की अपनी नौकरी के सिलसिले में भागलपुर में रह चुका था इसलिए मुझे इस शहर का कुछ अंदाज़ था। अपने दो शिक्षकों के साथ रात्रि विश्राम के लिए मैं धर्मशाला में चला गया। मैंने देखा कि समस्तीपुर जिले के एक शिक्षक हन्नान साहब हमारे साथ आ रहे हैं। मैंने उनसे पूंछा कि वे तो समस्तीपुर जिले में कार्यरत हैं फिर वे इस ट्रेन से भागलपुर कैसे आ गए। उन्होंने कहा मैंने तो आपको ट्रेन पर सवार होते हुए देखा। आप हमारे नेता हैं, आपको देखकर मैं उस ट्रेन में सवार हो गया। समस्तीपुर जिला से मेरे स्थानान्तरण की बात उन्हें मालूम नहीं थी। मैंने उनसे कहा कि मैं तो अब दरभंगा जिले में कार्यरत हूं और इस ट्रेन से दरभंगा, सीतामढ़ी और छपरा जिले के शिक्षक ही आए हैं। समस्तीपुर जिला के शिक्षकों के लिए शायद कोई दूसरी ट्रेन होगी। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उन्हें लिख कर दे दूं कि वे भागलपुर तक आए थे, उनका जेल जाने का इरादा था, लेकिन भूलवश वे गलत ट्रेन में सवार हो गए। मैंने उनकी इच्छानुसार पर्ची लिखकर उन्हें दे दी।

अगली सुबह भागलपुर जेल के दरवाजे पर जेल जाने वाले शिक्षक इकट्ठा होने लगे। जेल का यह परिसर मैंने पहले भी देखा था, हालांकि जेल के भीतर जाने का अनुभव नहीं था। जैसाकि पिछले अध्याय में ज़िक्र आया है- जब मैं पहली बार पोस्ट ऑफिस की नौकरी के लिए भागलपुर आया था तब जेलर साहब के परिवार के साथ ही रुका था।

जेल के अधिकारियों ने कैदियों की जिलेवार सूची बनाई और फिर हमें जेल के अंदर ले गए। जेल में अंदर एक कम्बल बिछा हुआ था और बिस्तर पर ओढ़ने के लिए भी एक कम्बल रखा हुआ था। बिस्तर के बग़ल में एक ग्लास रखा हुआ था। एक थाली भी थी।

मुझे शिक्षकों ने भोजनमंत्री बना दिया। मैं दो-तीन शिक्षकों के साथ स्टोर में जाता था और वहां से चना-गुड़ लेकर शिक्षकों के बीच बांट देता था। बांटने का कार्य शिक्षक मिलजुल कर करते थे। दिन का खाना तो ठीक था। दिन में चावल, दाल और सब्जी दी जाती थी, लेकिन रात में बस रोटी और दाल। रोटी का स्वाद बहुत ही खराब था। शिक्षकों ने शोर मचाया कि सड़े हुए आटे की रोटी परोसी जा रही है। बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ के सचिव वीरेन्द्र शर्मा भी एक बार शिक्षकों से मिलने भागलपुर जेल आए तो शिक्षकों ने उन्हें आटे का नमूना दिया। वे नमूना लेकर पटना गये, लेकिन रोटी में कोई सुधार नहीं हुआ। भोजन अन्य कैदियों के साथ ही बनता था। कैदी लोग ही खाना लेकर आते थे और शिक्षकों के बीच परोस देते थे। एक बार खाना दे देने के बाद दुबारा कोई नहीं पूछता था। शिक्षकों ने आगाह किया कि अगर खाने का स्तर नहीं सुधरा तो वे आंदोलन करेंगे। शिक्षकों ने मांग रखी कि उनके खाने की व्यवस्था अलग से की जाए। जेल प्रशासन ने शिक्षकों की बात सुनी और उनके खाने की व्यवस्था अलग कर दी गई।

जेल में बैरक को छह बजे शाम से ही बन्द कर दिया जाता था। एक-दो दिन ऐसा हुआ कि रात्रि का भोजन भी दिन में 5 बजे दे दिया गया। एक कैदी ही संतरी के रूप में बैरक में आता था और कैदी-शिक्षकों की गिनती कर लिया करता था। इसके बाद अपने-अपने बिछावन पर हम लोगों को सो जाना पड़ता था।

शिक्षकों ने मांग की कि उनका बैरक छह बजे नहीं बन्द किया जाए। हम लोगों ने सायंकाल में सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करने का निर्णय लिया। जेल प्रशासन ने हमारा यह अनुरोध भी स्वीकार कर लिया। भागलपुर के एक शिक्षक थे माधव जी। उन्होंने मुझसे मेरे बैरक में आकर कहा कि सांस्कृतिक कार्यक्रम की अध्यक्षता आपको करनी पड़ेगी। मैंने अध्यक्षता करने की स्वीकृति दे दी।

बैरक के बाहर एक बरगद का पेड़ था। उसी के नीचे एक-दो कम्बल बिछाकर मंच बना दिया जाता था। उसी पर हम लोग बैठ जाते थे। क्रम-क्रम से सभी शिक्षक बैरक से बाहर आकर उसी पेड़ के नीचे बैठ जाते थे। हम लोगों की संख्या 735 थी। अच्छी-खासी भीड़ इकट्ठा हो जाती थी। होली का समय था। कुछ शिक्षक थाली बजाकर ही होली गाते थे। कुछ अध्यापक अपनी कविता का पाठ करते थे। माधव जी अच्छे गायक थे। वे अपना गाना प्रस्तुत करते थे। हास्य और व्यंग्य भी मंच से प्रस्तुत किया जाता था। जेल में सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करके हम लोग एक अलग ही समां बांध दिया करते थे। खाने में भी सुधार हो गया। कभी-कभी शिक्षक बैरक के अन्दर भी थाली बजाकर होली गाते थे। वयस्कों का समूह भी अवसर मिलने पर बच्चों जैसा व्यवहार करने लगता है। कभी-कभी लगता था कि यह शिक्षकों का समूह नहीं, बल्कि किशोरों का समूह है।

हमारे बीच एक शिक्षक पंडित जी थे। वे मुसलमान शिक्षक के साथ बैठकर खाना नहीं खाना चाहते थे। जब हम लोग खाने के लिए बैठते तो खाने के समय कोई एक शिक्षक मुसलमान शिक्षक साथी का हाथ पकड़ लेता था और अपना दूसरा हाथ किसी दूसरे शिक्षक साथी की ओर बढ़ा देता था। फिर क्रम-क्रम से प्रत्येक शिक्षक एक-दूसरे का हाथ पकड़ लेते थे। इस प्रकार मुसलमान शिक्षक साथी से शुरू होकर एक मानव-शृंखला निर्मित हो जाती थी। जब पंडित जी को इस मानव-शृंखला से जोड़ने की कोशिश की जाती तो वे अपनी थाली लेकर दूसरी पंक्ति में भाग जाते थे। उनके इस आचरण से मुसलमान साथी सहित तमाम शिक्षक हंसने लगते थे। पंडित जी को खुद भी हंसी आ जाती थी।

हम लोग करीब ग्यारह दिन जेल में रहे। एक दिन अचानक घोषणा हुई कि रामसुन्दर दास जी की सरकार गिर गई है। रामसुन्दर दास ऐसे मुख्यमंत्री थे जो शिक्षकों के प्रतिनिधि से बात नहीं करना चाहते थे। शिक्षक किसी हद तक ख़ुश थे कि आंदोलन के बाद विद्यालयों का सरकारीकरण तो नहीं हुआ, लेकिन रामसुन्दर दास की सरकार गिर गई। सरकार गिरने के बाद शिक्षकों को जेल से छोड़ देने का आदेश आया। आदेश आने के अगले ही दिन हम लोगों को जेल से छोड़ दिया गया।

रामसुन्दर दास जी की सरकार गिरने के बाद डॉ. जगन्नाथ मिश्र की सरकार बनी और हमने एक दिन अचानक सुना कि 2 अक्टूबर, 1980 से सभी माध्यमिक विद्यालयों का सरकारीकरण कर दिया गया है। इस घोषणा से अध्यापकों में प्रसन्नता की लहर फैल गई। माध्यमिक शिक्षकों को वे सारी सुविधाएं देने की घोषणा हुई जो सरकारी कर्मचारियों को दी जाती थीं। आख़िर शिक्षकों का आन्दोलन सफल हुआ। बीच में परिस्थिति कुछ ऐसी भी बन गई थी कि माध्यमिक विद्यालय के कुछ शिक्षकों ने मिडिल विद्यालयों में जाना शुरू कर दिया था। क्योंकि मिडिल विद्यालयों में वेतन भुगतान नियमित रूप से होता था और माध्यमिक विद्यालयों की सरकार अब तक उपेक्षा करती चली आ रही थी। माध्यमिक विद्यालयों के सरकारीकरण से यह विसंगति दूर हो गई।

तुम इस स्कूल से ट्रान्सफर करवा लो

पिछले अध्याय में मैंने ज़िक्र किया है कि साखमोहन उच्च विद्यालय में मैं प्रायः हर वर्ष तुलसी जयन्ती का आयोजन करता था। 1975 ई. की बात है। अगस्त का महीना था। मैंने तुलसी जयन्ती की चर्चा की तो मेरे साथी शिक्षक श्री हरिशंकर पाठक जी ने बताया कि पड़ोस के उच्च विद्यालय के प्रधानाध्यापक शशांक जी तुलसी साहित्य के अच्छे अध्येता और जानकार हैं। हम लोगों ने उस वर्ष की जयन्ती के लिए उन्हें बुलाने का मन बनाया। 19 अगस्त, 1975 को मैं हरिशंकर पाठक जी के साथ शशांक जी से मिलने गया। शशांक जी ने आमंत्रण स्वीकार किया। रात आठ बजे के लगभग मैं उनके पास से अपने घर लौट आया।

उस समय मेरी बड़ी बेटी पूनम एम.डी.डी.एम. कॉलेज, मुजफरपुर में पढ़ रही थी। दूसरी बच्ची पुष्पा उस समय ननिहाल में थी। मनोज और प्रवीण हम लोगों के साथ थे। रात्रि-भोजन के बाद मैं तुलसी पर एक कविता की रचना करने लगा। करीब 11:45 बजे रात तक काम करने के बाद मैं सो गया। मेरे साथ मनोज सोया था। दूसरे कमरे में प्रवीण अपनी मां के साथ सो रहा था।

करीब 12 बजे मेरी आंखों पर टार्च की तीखी रोशनी पड़ी। मुझे लगा कि शायद मेरी पत्नी किसी काम से बरामदे में गई हों और गलती से टार्च इस तरफ जल गयी हो, लेकिन टार्च की रोशनी मेरी आंखों पर स्थिर हो चुकी थी। कुछ खीझ से और कुछ डर से मैंने पूछा कौन है बाहर। उधर से कड़कती हुई आवाज आई कि चुपचाप दरवाजा खोल दो नहीं तो गोली मार दूंगा। तब तक मेरी पत्नी ने बाहर बरामदे में पांच-सात लोगों को देख लिया था और उन्होंने मुझे आगाह किया कि बाहर बहुत सारे लोग हैं इसलिए मैं दरवाजा नहीं खोलूं। लेकिन तब तक मैं दरवाजा खोल चुका था। अंदर घुसते ही एक व्यक्ति ने मेरे ऊपर बन्दूक तान दी और मुझसे सख़्त आवाज में पूछा कि 'चाबी कहां है? माल दिखाओ।' मैंने अलमारी खोलकर दराज़ उसके सामने रख दी। संयोग से उस दिन मेरे पास नगद के नाम पर बस दस रुपए थे। उन दिनों ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं थी, लेकिन डकैतों को विश्वास नहीं हुआ कि मेरे पास सिर्फ इतने ही नगद होंगे। उस आदमी ने फिर कड़कती हुई आवाज में लगभग डपटकर मुझसे कहा कि माल दिखाओ नहीं तो गोली मार दूंगा। इस बार मैंने साहस बटोर कर कहा कि अगर आप लोग मुझे गोली ही मारने आए हो तो वही पहले कर लो। मेरे पास जो कुछ भी अलमारी में था मैंने दिखा दिया। बाकी जो कुछ है घर में वह आप लोगों के सामने ही है। उसके बाद उन्होंने मेरी कलाई से घड़ी उतरवाई। मेरी पत्नी की कान की ओर इशारा किया। उन्होंने अपनी सोने की बाली उतारकर दे दी। उसमें से एक व्यक्ति ने साइकिल बाहर निकाली, दूसरे ने रेडियो को हस्तगत किया। तीन-चार व्यक्ति घर के नए-पुराने कपड़े, खाने-पीने के सामान बटोर-बटोर कर पोटली बनाने लगे। बंदूकधारी व्यक्ति ने लगातार मेरे ऊपर बन्दूक ताने रखी। इस दौरान मनोज की नींद खुल चुकी थी। वह चुपचाप बिस्तर पर बिना कोई प्रतिक्रिया किए बैठ गया। प्रवीण छोटा था और दूसरे कमरे में सो रहा था। घर में खटर-पटर से उसकी नींद खुल गई और वह रोने लगा। डकैतों के सरदार ने मेरी पत्नी से कहा कि बच्चे को चुप करवाओ। यह सब कुछ लगभग आधे घंटे तक चला, फिर सारा सामान समेटकर डकैत पश्चिम दिशा की ओर निकल पड़े। जाते-जाते एक व्यक्ति ने कहा कि तुम विद्यार्थियों को फेल बहुत करते हो। इस स्कूल से ट्रांसफर करवा लो। मैंने कहा 'ठीक है, मैं वैसा ही करूंगा।' हालांकि मुझे पता था कि जिस प्रकार के विद्यालय में मैं कार्यरत हूं उसमें स्थानांतरण का कोई प्रावधान नहीं है। वैसे

मैंने शायद ही कभी किसी विद्यार्थी को अपनी ओर से फेल किया होगा। शिक्षक और प्रधानाध्यापक के रूप में हमारी हमेशा यह कोशिश रहती थी कि विद्यार्थी अच्छे रिज़ल्ट के साथ पास हो जाएं।

डकैतों के निकलते ही मूसलाधार बारिस होने लगी। मैं स्तब्ध था। पिछले आधे घंटे में सब कुछ बदल चुका था। कुछ घण्टे पहले मैं शशांक जी और पाठक जी के साथ तुलसी के साहित्य की चर्चा कर रहा था, तुलसीदास पर कविता की पंक्तियां जोड़ रहा था और अब बंदूक, धमकी, बारिस की सुनसान रात, बियाबान में स्थित मेरा आवास। स्कूल के भवन में दोनों आदेशपाल सो रहे थे। स्कूल के ही एक कमरे में साइंस टीचर कपिलेश्वर बाबू भी सोते थे। मुझे उन लोगों की चिन्ता हुई। मैंने पत्नी से कहा कि मैं उन्हें देखकर आता हूं। उसने कहा आप यहां ठहरिए, शायद आप पर कोई नज़र रख रहा हो, मैं जाती हूं। जब वह वहां गईं और दोनों आदेशपाल को जगाया तो वे जग तो गए, लेकिन अपना दरवाजा ही नहीं खोल पा रहे थे। तब तक कपिलेश्वर बाबू भी अपने कमरे से निकल कर आ गए। जब उन्होंने डकैती की बात सुनी तो वे सन्न रह गए। कपिलेश्वर बाबू को यह समझने में देर लगी कि आदेशपाल जिस कमरे में सो रहे थे उसके दरवाजे की कुंडी को बाहर से तार लपेटकर बंद कर दिया गया था। जाहिर है ऐसा डकैतों ने ही किया होगा। इससे यह भी पता चला कि सब कुछ पूरी तरह सुनियोजित था।

कपिलेश्वर बाबू और दोनों आदेशपाल - अर्जुन और रेशमी ने जब मेरे घर की हालत देखी तो वे सन्न रह गए। बारिस बहुत तेज हो रही थी इसलिए उस समय कहीं सूचना देने जाना भी संभव नहीं था और उस समय वे लोग शायद हमें अकेला छोड़ना भी नहीं चाहते थे। सुबह चार बजे के आसपास बारिस थमने पर रेशमी सचिव महोदय के घर के लिए निकला। उन्हें डकैती की घटना से मेरे घर की स्थिति से अवगत करवाया। हालत यह थी कि डकैत अलगनी पर सूख रहे कपड़े भी लेकर चले गए थे, खाने-पीने का सामान तो ले ही गए थे। जाहिर है इस डकैती की योजना किसी ऐसे व्यक्ति ने बनवाई थी जो नहीं चाहता था कि मैं उस स्कूल में रहूं।

सुबह रामनन्दन बाबू कुछ कपड़े और खाना आदि का सामान लेकर आए। सचिव महोदय ने कहा कि हम लोगों को थाना चलकर डकैती की सूचना देनी चाहिए। हम लोगों ने पैदल ही थाना जाने के लिये प्रस्थान किया। करीब ग्यारह बजे सचिव महोदय के साथ मैं विभूतिपुर थाना पहुंच गया। दरोगाजी को सारी बातें बताईं। उन्होंने कहा कि यह छात्रों द्वारा आपको तंग करने का मामला लगता है। मैंने कहा कि आप इस घटना को गंभीरता से नहीं लेना चाह रहे हैं। छात्र बन्दूक के साथ रात में मुझे परेशान करने आएंगे? एक शिक्षक और प्रधानाध्यापक के रूप में मुझे पता है कि छात्र किस प्रकार की बदमाशी कर सकते हैं। आप लोग थाने में बैठकर ही स्थिति का अनुमान लगा लेते हैं। आपने प्राथमिकी दर्ज नहीं की तो मैं एस.पी. साहब से मिलने समस्तीपुर जाऊंगा। उसी समय संयोग से थाने में डीएसपी आ गये। उन्होंने स्टेशन अफसर को प्राथमिकी दर्ज करने का आदेश दिया। एफ.आई.आर. नोट करने के बाद करीब एक बजे दिन में विद्यालय पहुंचकर पुलिस के लोगों ने स्थल का निरीक्षण किया। दूसरे दिन निकटवर्ती ग्राम से करीब छह व्यक्तियों को पकड़ा। ये लोग पुलिस की सूची में दाग़दार व्यक्ति के रूप में अंकित थे। एक दिन थाने में रखने के बाद उन लोगों को समस्तीपुर जेल भेज दिया गया। शक के आधार पर ही इन लोगों को पकड़ा गया था। गिरतार व्यक्तियों में साखमोहन का कोई भी नहीं था।

डकैती के बाद अब विद्यालय में रहना सम्भव नहीं रह गया था। सचिव महोदय ने कहा कि आप मेरे घर पर ही चलें। वहां आपके और विज्ञान शिक्षक के रहने की व्यवस्था की जाएगी। सचिव महोदय के छोटे भाई लक्ष्मीरमण जी थे। वे उस समय गांव के मुखिया भी थे। उन्होंने अपने आंगन का आधा हिस्सा मुझे रहने के लिए दे दिया। मैं अब वहीं रहने लगा। विज्ञान शिक्षक भी उनके दरवाजे पर ही रहने लगे। पूर्व की भांति विज्ञान शिक्षक मेरे साथ ही खाना खाने लगे। विद्यालय से लक्ष्मी बाबू का घर दो किलोमीटर दूर था। वहां से मैं साइकिल से विद्यालय आने-जाने लगा।

हालांकि डकैती के बाद मैंने फिर से स्कूल के काम में अपना मन लगाना शुरू किया, लेकिन आवास की नई व्यवस्था का असर मेरे काम पर पड़ा। परिस्थितियां तेज़ी से बदल रही थीं। गांव में तनाव बढ़ रहा था और उसका असर मेरे काम पर भी पड़ रहा था। जब मेरा आवास विद्यालय परिसर में था तब मैं गांव की चौहद्दी से बाहर रहता था। अब

मैं गांव में आकर रहने लगा। मेरी कोशिश थी कि लोग स्कूल को गांव के किसी गुट से जोड़कर नहीं देखें और मुझे गांव से बाहर का एक निष्पक्ष शिक्षक-कर्मचारी समझें। रामनन्दन बाबू का प्रयास रहता था कि मुझे किसी प्रकार की ग्रामीण राजनीति में नहीं शामिल किया जाए, लेकिन उनके विरोधी शायद मुझे एक निरपेक्ष व्यक्ति के रूप में नहीं देख पाते थे। पहले भी मैं रामनंदन बाबू के साथ काम करता था, लेकिन मेरा आवास विद्यालय में था। अब मैं उनके परिवार के साथ रहने लगा था।

गांव के जो आम लोग थे, जो निष्पक्ष थे उनकी सहानुभूति मेरे प्रति डकैती के बाद और बढ़ गई थी, लेकिन गांव में निष्पक्ष लोग बहुत कम रह गए थे। गांव में रहने के बाद मुझे अहसास होने लगा कि पिछले दस वर्षों में साखमोहन गांव काफी बदल चुका है।

फिर भी सब कुछ भूल कर मैं अपने काम में मन लगाने लगा। विद्यालय से स्थानांतरण इतना आसान नहीं था। वर्षों के संघर्ष के बाद अब जाकर मेरी आमदनी का स्रोत कुछ निश्चित होने लगा था। सन 1975 में शिक्षक संघ के वर्षों के संघर्ष के बाद बिहार सरकार ने माध्यमिक शिक्षकों के वेतन की गारंटी कर दी थी, हालांकि विद्यालयों का सरकारीकरण बाद में हुआ। वेतन की गारंटी के बाद विद्यालय की पूरी आमदनी सरकारी ख़ज़ाने में जमा करवानी पड़ती थी और सरकार की ओर से शिक्षकों के वेतनमान के अनुसार वेतन का भुगतान कर दिया जाता था। मेरी अपनी पारिवारिक ज़िम्मेदारियां थीं और मैं इस नौकरी से होने वाली आमदनी पर निर्भर था।

डकैती के बाद जनसहयोग से मैंने विद्यालय में कवि सम्मेलन का आयोजन किया जिसका जिक्र पहले आया है। कवि सम्मेलन सफल रहा। शिक्षक संघ के कामों में मैं पूर्व की भांति जुटा रहा। विद्यालय की गतिविधियां सुचारु रूप से चलती रहीं। साखमोहन विद्यालय अब लगभग एक दशक पुराना हो चला था। विद्यालय पर विद्यार्थियों और अभिभावकों को भरोसा था। जब तक मैं विद्यालय में होता, तब तक मुझे सब कुछ सामान्य लगता। लेकिन विद्यालय से लौटकर गांव में आने के बाद ग्रामीण जीवन के तनाव का अहसास गहरा होता चला जाता था। ◆

[क्रमशः]

लेखक परिचय : श्री श्याम नारायण मिश्र चन्दौना गांव, जिला-दरभंगा (बिहार) के रहने वाले हैं। उनका जन्म 1934 ईस्वी में हुआ। जिस वर्ष देश आजाद हुआ उस वर्ष वे सातवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। जिस समय वे मैट्रिकुलेशन के परीक्षार्थी थे उसी समय देश का संविधान लागू हुआ और देश में पहला आम चुनाव भी हुआ। 1950 के दशक में उन्होंने विज्ञान शिक्षक के रूप में नौकरी शुरू की। बीच में उन्हें पोस्ट ऑफिस की पक्की नौकरी भी मिली, लेकिन जब वहां उनका मन नहीं रमा तो लौट कर फिर से अध्यापन में जुट गए। आगे चलकर वे कई दशकों तक प्रधानाध्यपक के रूप में एकाधिक विद्यालयों से जुड़े रहे। इस दौरान शिक्षक-आंदोलन और अन्य सामजिक-शैक्षणिक गतिविधियों में भी उनकी सक्रियता रही। उनकी कुछ रचनाएं बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ की पत्रिका 'प्राच्य प्रभा' में प्रकाशित हुईं। 'सदानीरा' और 'परिमल' शीर्षक से प्रकाशित दो सम्पादित काव्य संग्रहों में उनकी कुछ कविताओं को शामिल किया गया। शिक्षक-आंदोलन के दौर में उनकी एक कविता- 'युवक, क्या तुम शिक्षक बनोगे' को काफी सराहना मिली।

संपर्क : 7019269187; manoj_maee@yahoo.in

आजाद भारत में नयी तालीम का प्रयोग

ऋषभ कुमार मिश्र

1950-60 के दशक में आजाद भारत में भविष्य की नींव रखी जा रही थी। पूरे देश में उत्साह था। यह बोध था कि हम 'अपनी' व्यवस्थाओं का 'अपने लोगों' के लिए विकास कर रहे हैं। इस दौर में शिक्षा संबंधी अनेक प्रयोग हो रहे थे। इन प्रयोगों में बुनियादी शिक्षा को लेकर एक आकर्षण था। गांधी से प्रभावित कार्यकर्ता अपने-अपने क्षेत्रों में बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों के अनुसार स्कूल खोल रहे थे। ऐसे माहौल में वर्ष 1950 में चितरंजन दास ने उड़ीसा के अंगुल जिले के पास, चंपातीमुंडा, में एक उत्तर-बुनियादी विद्यालय आरंभ किया। वे स्वयं राष्ट्रीय आंदोलन के बड़े नेता थे। आजादी के बाद इन्होंने शिक्षा के द्वारा सामाजिक बदलाव का सपना देखा। गांधी की तरह वे ग्राम समाज में विश्वास करते थे। इन्होंने सहकार और पारस्परिकता पर आधारित एक स्वावलंबी ग्राम समाज को विकसित करने का स्वप्न देखा। इसे साकार करने के लिए जिन युवाओं की आवश्यकता थी उसकी तैयारी के लिए उन्होंने उक्त उत्तर-बुनियादी विद्यालय की स्थापना की। यह स्कूल चार वर्षों तक चला और फिर बंद हो गया। अपने अनुभवों को चितरंजन दास ने 'लेटर्स फ्रॉम अ फॉरेस्ट स्कूल' में प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक को आधार बनाकर प्रस्तुत लेख विश्लेषित करने का प्रयास करता है कि इस उत्तर-बुनियादी विद्यालय की विषेशताएं क्या थीं? यह प्रयोग क्यों असफल रहा?

सीखने वालों का परिवार

इस विद्यालय को उन्होंने शहर के भागम-भाग भरी जिंदगी से दूर गांव के निकट एक जंगल में स्थापित किया। स्कूल के लिए ऐसे स्थान विशेष के चुनाव के बारे में इनकी टिप्पणी थी कि ''स्कूल गांव के निकट होगा लेकिन गांव में नहीं। वहां साधन होगें लेकिन वह सभ्यता के बोझ तले नहीं दबा होगा। वहां उपभोक्तावाद का कोई लक्षण नहीं होगा[1]। विद्यार्थी को किसी तयशुदा मॉडल में ढालने की रंच मात्र भी कोशिश नहीं होगी[2]।'' इन दोनों कथनों से चितरंजनदास की शिक्षा दृष्टि स्पष्ट होती है। वे अपने विद्यालय को कारखाना नहीं बनाना चाहते हैं जहां उपभोक्ता जो चाहता है, उसका उत्पादन हो। वे नयी तालीम के सिद्धान्तानुसार प्रकृति, उद्योग और समुदाय के पारस्परिक संबंध को विद्यालय का आधार बनाना चाहते थे। इनके माध्यम से वे ऐसे विद्यार्थी तैयार करना चाहते थे जो सर्वोदय और ग्राम स्वराज के लक्ष्य को साकार कर सके। वे सरकार की जरूरत के हिसाब से पढ़े-लिखे लोगों की पूर्ति के लिए विद्यालय को माध्यम बनाने के सख़्त खिलाफ थे।

चंपातीमुंडा के पास जंगल में स्कूल को आरंभ करना और उसे चलाना कोई आसान काम नहीं था। खुले मैदान में पढ़ाई के दौरान बारिश हो जाना, रात को चीते का आना, लकड़ियों की समस्या, सोने के स्थान की समस्या आदि के साथ यह स्कूल शुरू होता है। पूरे उत्साह के साथ विद्यालय आरंभ हुआ। इस भाव को व्यक्त करते हुए चितरंजनदास लिखते हैं- ''उसने जिसने अपने मस्तिष्क, बुद्धि और हृदय को तैयार किया है कि वह रोज के अनुभवों से सीखेगा, वह अपनी सीखने की क्षमताओं का अनंत विस्तार करेगा।''[3] इस ऊर्जा के साथ जंगल

का विद्यालय सजीव हो उठता है। इस विद्यालय के स्थापना वर्ष में उन्हीं विद्यार्थियों को प्रवेश दिया गया जिन्होंने 8 वर्ष की बुनियादी शिक्षा पूर्ण कर ली थी। प्रथम वर्ष में 26 विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया। इस विद्यालय के संचालन के लिए उड़ीसा सरकार द्वारा 200 एकड़ की भूमि दी गई थी। स्कूल का आरंभ तीन छोटे कमरों और टेंट के साथ हुआ। स्कूल के शिक्षक और विद्यार्थी सुबह ईटें बिछातें और जंगल से लकड़ियां लाते। दोपहर में महुए के वृक्षों के नीचे कक्षाएं चलती थीं। इस तरह के साथ प्रकृति के बीच 'सीखने वालों का परिवार' बसने लगा। छोटी-छोटी पहाड़ियों पर शिक्षक बैठकर बच्चों के साथ बातें करते। वे इतिहास, भूगोल, विज्ञान और साहित्य के साथ अपने रोजमर्रा की चुनौतियों को मिलकर सुलझाते। शिक्षक संख्या में कम थे। उनकी कमी को पुस्तकालय की सामग्रियों से पूरा करने की कोशिश की जाती थी। इस तरह से एक प्राकृतिक परिवेश में प्रेम और स्नेह से स्कूल की संस्था खड़ी होने लगी। इस संस्था की विशिष्टता के बारे में चितरंतन दास लिखते हैं- ''प्रकृति से सौंदर्य और रिश्तों में प्रगाढ़ता स्कूल की बुनियाद है''।[4] यह बुनियाद गुणवत्ता वाली शिक्षा का आधार बनती है जहां केवल सबको शिक्षा ही नहीं मिलती बल्कि यह समानतामूलक, सृजनक्षमता को संवर्धित करने वाली और प्रकृति के साथ सहअस्तित्व के भाव को पोषित करती है। इस विद्यालय में अहिंसा आधारित शांतिमूलक जीवन का अभ्यास किया जाता है। सीखने की गतिविधि कृत्रिम न होकर जीवन के लय के साथ चलती है। विद्यालय के इस परिवेश को जीवन के साथ सीखने का स्रोत माना जा सकता है।

विचारों का स्वराज

चितरंजन दास का मानना था कि जहां विचारों को स्वीकार करने की स्वतंत्रता होती है वहां स्वाभाविक आनंद पैदा होता है। विचारों की स्वतंत्रता व्यक्ति अपने पूर्वग्रहों से मुक्त करती है। सामाजिक बदलाव के लिए तैयार करती है। दूसरे विचारों से संवाद और उनकी स्वीकार्यता की पृष्ठभूमि तैयार करती है। इसके लिए वे विद्यालय में क्रिसमस मनाए जाने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस उत्सव के अनुभव को दर्ज करते हुए एक विद्यार्थी के उद्धरण का उल्लेख करते हैं जो कहता है- ''सभी धर्म समान हैं। यदि हम दूसरे धर्म के बारे में नहीं जानते हैं उनके उपदेशकों/विचारकों के विचार को नहीं सुनते हैं तो क्या हमारा खुद का धार्मिक जीवन पूर्ण होगा?'' यह कथन प्रमाण है कि कैसे विद्यालय की संस्कृति ने विद्यार्थी की मननशीलता को पोषित किया। यह सवाल किताब और परीक्षा से नहीं पैदा हुआ बल्कि उन अन्तःक्रियाओं और संवाद से उपजा जिसका विद्यालय में अवसर था। इसी तरह वे पुरी में सर्वोदय सम्मेलन के आयोजन में विद्यार्थियों और शिक्षकों की सहभागिता का उल्लेख करते हैं। इस सम्मेलन में विद्यार्थी और शिक्षक जीवन और समाज के प्रत्यक्ष अनुभवों के माध्यम से सीखते हैं। वस्तुतः वे स्वयं सेवक की भूमिका में राजीनीतिक-सामाजिक समझ का विकास करते हैं। इस तरह की गतिविधियों में उनकी भागीदारी उनकी स्वतंत्रता के साथ खोजी प्रवृत्ति का बनाती है। चितरंजन दास चाहते तो वे विद्यार्थियों को सर्वोदय का मूल्य अपनाने का 'उपदेश' दे सकते थे लेकिन उन्होंने विद्यार्थियों को खुद से इसकी पड़ताल करने का अवसर दिया। उन्हें इसके पक्ष और विपक्ष से जुड़ी चर्चा में शामिल किया। विचारों का यह स्वराज इस स्कूल के विद्यार्थियों के दायित्व बोध को संवर्धित करता था। वे केवल समाज में जाकर कोई दिया कार्य नहीं करते थे बल्कि उसके औचित्य और भूमिका के प्रति सचेत रहते थे।

समुदाय के साथ संबंध

इस स्कूल का समुदाय के साथ विशेष संबंध विकसित होता है। चितरंजन दास अपना अनुभव साझा करते हुए बताते हैं कि विद्यार्थियों ने विद्यालय के वार्षिकोत्सव में अभिभावकों को आमंत्रित किया। कुल 25 अभिभावकों को निमंत्रण भेजा गया, जिनमें से छह आए। विद्यार्थियों ने पूरे कार्यक्रम के आयोजन का दायित्व संभाला। सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। चितरंजनदास इस आयोजन की विशिष्टता बताते हैं कि दूसरे स्कूलों में अभिभावकों के सामने बच्चे पहाड़ा सुनाते या भाषा के कौशलों का प्रदर्शन करते हैं। जबकि इस स्कूल में बच्चों ने जो सीखा था उसे जीवन व्यवहार में उतार कर दिखाया। अभिभावकों ने जाना कि स्कूल ने उनके बच्चों के जीवन को कैसे प्रभावित

किया है। समुदाय के साथ इस तरह का संबंध उन्हें आश्वस्त करता है कि एक 'विचित्र' स्कूल कैसे कार्य करता है? इस विश्वास को विद्यालय परिवार ने पुनः पुष्ट किया। उसी वर्ष गांव में बाढ़ आ गई। इस दौरान स्कूल के विद्यार्थियों और शिक्षकों ने मिलकर समुदाय की मदद की। इस अवसर पर उनका सेवाभाव प्रशंसनीय था। इसकी सराहना की गई।

अनूठी परीक्षा

इस पुस्तक में चितरंजनदास विद्यालय की अकादमिक गतिविधियों का भी अनूठापन बताते हैं। इस स्कूल की परीक्षा विधि विशिष्ट थी। इसमें केवल विषयों की दो घंटे या तीन घंटे की लिखित परीक्षा नहीं ली जाती थी बल्कि जिन गतिविधियों में भागीदारी की है उस पर मननपूर्ण सवाल रखे गए थे। इसका उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है[5]-

- आपको कौनसी प्रार्थना पसंद है और क्यों?
- पिछले वर्ष आप कितनी बार बीमार हुए? आपके अनुसार कितनी बार आप अपनी लापरवाही से बीमार हुए हैं?
- काम और पढ़ाई अथवा काम के द्वारा पढ़ाई आप किसके पक्ष में हैं और क्यों?
- आप राष्ट्रीय साहित्य से क्या समझते हैं?
- पिछले वर्ष पाकिस्तान में लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना हुई है। आपके अनुसार पाकिस्तान के लोकतंत्र और भारत के लोकतंत्र में क्या अंतर है?
- रूस और अमेरिका विश्व को दो हिस्सों में बांटने की कोशिश कर रहे हैं। वे किन तरह के तरीकों का प्रयोग कर रहे हैं?

इस स्कूल की परीक्षा के साथ-साथ विद्यार्थियों को उनकी उपलब्धि और सीमाओं के बारे में बताने का भी एक अनोखा तरीका था। हर तीन महीने पर अध्यापक बच्चों को पत्र लिखते थे। उस पत्र में एक तरह से विद्यार्थी का आकलन रहता था। वह पत्र को बच्चे को व्यक्तिगत रूप से दिया जाता था। जिसमें बच्चे की उपलब्धियों के साथ-साथ सीमाओं का उल्लेख रहता था। इसका एक नमूना नीचे दी गयी तालिका में प्रस्तुत किया गया है[6]-

- आपके प्रयास सही दिशा में है। आप अपने जीवन में अनुशासन के लिए भी प्रतिबद्ध है लेकिन आप हिंदी में कमजोर है और बंगाली पर भी ध्यान नहीं दे रहे हैं। आपने पुस्तकालय से जो किताबें ली हैं उसका भी पूरा रिकॉर्ड नहीं रखते हैं।
- आप अपने कार्यों को नियमित करने में सफल रहे हैं। आप और एकाग्रता से पढ़ सकते हैं। इसके लिए आपके पास क्षमता है। इसे साकार करना होगा।
- तुम्हारे पास संगीत के क्षेत्र में आगे बढ़ने की क्षमता है तुम इसका उपयोग क्यों नहीं करते हो? तुम्हारा शरीर ताकतवर है। तुम खेल में इसका उपयोग क्यों नहीं करते हो?

इस आख्यान को पढ़ने वाले पाठकों के मन में सवाल उठ रहा होगा कि यहां पढ़ने वाले विद्यार्थियों की सोचने-विचारने की क्षमता पर इन अनुभवों का क्या प्रभाव पड़ा होगा? इस प्रभाव को व्याख्यायित करने के लिए चितरंजनदास विद्यार्थियों के विभिन्न अध्ययन समूहों द्वारा लिखी गयी टिप्पणियों का उल्लेख करते हैं-

- शिक्षा में स्वतंत्रता का आशय स्कूल को सृजन के स्थान के रूप में विकसित करना है। स्वतंत्रता का आशय बड़ों की दुनिया और उनकी अपेक्षाओं से बचाना है। हर भागीदार को अपना रास्ता चुनने और उस पर आगे बढ़ने का सामर्थ्य देना है।

- स्वावलंबन का अर्थ उत्पादन बढ़ाना और उसे बेचना नहीं है। न ही इसके लिए विद्यार्थियों को बाध्य किया जाना चाहिए। स्वावलंबन और ज्ञान की जिज्ञासा के बीच संतुलन होना चाहिए।
- शिक्षा सहकार युक्त जीवन जिसमें व्यक्तियों को दायित्व बोध हो उनमें लालच और प्रतियोगिता के स्थान पर सबके कल्याण और लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति निष्ठा हो।
- बुनियादी शिक्षा की पद्धति केवल गांव या गरीब के बच्चों के लिए नहीं है। यह एक वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें समग्र मनुष्य के विकास का लक्ष्य होता है। वह किताब के स्थान पर सीधे दुनियावी अनुभवों से सीखता है।

विद्यार्थियों की टिप्पणियां स्पष्ट करती हैं कि वे खुद को, परिवेश को और परिवेश को जानने में शिक्षा की भूमिका को विशिष्ट मानते हैं। वे केवल उपलब्धियों या सफलता के पीछे नहीं है। वे खुद को एक बेहतर जीवन के लिए तैयार कर रहे हैं। वे शिक्षा और विकास की प्रक्रियाओं की सीमाओं को रेखांकित कर रहे हैं। उनके लिए 'नौकरी' की चिंता के स्थान पर स्वालंबन प्राथमिक है। उनके लिए परिस्थितियों से समायोजन के स्थान पर बदलाव करना महत्वपूर्ण है। उनके मन-मस्तिष्क में एक भिन्न सभ्यता दृष्टि है जिस ओर वे बढ़ने को उद्यत हैं।

प्रयोग का अवसान

लगभग 4 वर्षों तक विद्यालय का संचालन करने के दौरान चितरंजन दास पाते हैं कि स्वतंत्रता के बाद की नयी परिस्थितियों में शिक्षा द्वारा नौकरी प्राप्त करने की आकांक्षा बलवती हुई। हर व्यक्ति स्वावलंबन, सेवा और सर्वोदय के स्थान पर सत्ता का भागीदार बनना चाह रहा था। समाज में स्कूल को नगरीय जीवन के केन्द्र के रूप में देखा जाने लगा। इन परिस्थितियों में बुनियादी विद्यालयों का आकर्षण कम होने लगा। इसके अलावा राज्य पोषित शिक्षा व्यवस्था जिसमें स्वालंबन, स्वतंत्रता और स्वराज का बीज बनने की संभावना थी वह हर स्कूल के लिए एक समान मानदंड को लागू करने के लिए उतावली होने लगी। विद्यालयों पर नौकर शाही का दबाव बढ़ने लगा। शिक्षा से जुड़े नौकरशाह उत्तर-बुनियादी स्कूल के विद्यर्थियों को बाध्य करते हैं कि वे उच्चतर माध्यमिक कक्षा की परीक्षा पास करने से पहले मैट्रिक की परीक्षा पास कर लें। चितरंजनदास बुनियादी शिक्षा के मॉडल का उल्लेख करते हुए अपने विद्यार्थियों के लिए विशेष व्यवस्था की मांग करते रहे। लेकिन नौकरशाही ने बाध्यकारी पुस्तक-आधारित और परीक्षोन्मुख व्यवस्था को कायम रखा। इन परिस्थितियों में कुछ विद्यार्थी आधी-अधूरी तैयारी के साथ परीक्षा में बैठे। कुछ न दूसरे विद्यालय में प्रवेश लिया। इन परिस्थितियों में विद्यालय लड़खड़ाने लगा और अंततः बंद हो गया। विद्यालय के छोटे से जीवन का आकलन करते हुए चितरंजनदास शिक्षा और समाज के संबंध में यथास्थितिवादिता की व्याख्या करते हैं। वे बताते हैं कि हमारी शिक्षा व्यवस्था ऐसे अस्थिर दिमागों को तैयार कर रही है जो अपनी योजनाओं में उलझे हुए हैं। इनके सपनों में 'हासिल' करने की चाहत है। वे सहकार जीवन और स्वावलंबन के स्थान पर नौकरी पाने की इच्छा रखते हैं। शिक्षक इससे भिन्न नहीं है। कोई भी शिक्षक गांव के विद्यालय में रुकना नहीं चाहता। वह पढ़ाना नहीं चाहता। उसके लिए गांव के लिए किया जाने वाला हर कार्य पिछड़ेपन का परिणाम है। हमारी शिक्षा व्यवस्था वयस्कों की अधिनायकवादी व्यवस्था से मुक्त नहीं हो पायी है। मनुष्य जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति शिक्षा भी मानने लगी है कि 'प्रकृति' हर बाधा की मूल है। शिक्षा व्यवस्था ने स्वीकृति दे दी है कि सीखने के बजाय उपयोगी ज्ञानार्जन कर सुरक्षित जीविका की खोज हमारा लक्ष्य होना चाहिए। अध्यापक इसी लक्ष्य के फलीभूत रूप बनते जा रहे हैं। इसी कारण सेवा-भाव से भरे अपने विषय ज्ञान के प्रति अनुसंधान का भाव रखने वाले जिज्ञासु मस्तिष्क के शिक्षक नहीं मिल रहे हैं। इसका दुष्प्रभाव विद्यालय संस्कृति पर पड़ रहा है। अध्यापक के व्यवहार के बारे में एक विद्यार्थी अपनी डायरी में लिखता है कि ''मेरे शिक्षक मेरे साथ क्यों नहीं रहते''। विद्यार्थी का कथन शिक्षक-शिक्षार्थी के बीच बढ़ती दूरी का प्रमाण है। शिक्षक की भूमिका को कक्षा शिक्षक तक सीमित करने के कारण शिक्षा एकांगी होती जा रही है। शिक्षक की भूमिका राज्य के नौकर के रूप में सफल है लेकिन वह शिक्षार्थी और शिक्षा के लिए कारगर नहीं हो पा रही है। जबकि अध्यापक केवल नौकरी नहीं करते बल्कि वे अपने विद्यार्थियों के साथ मिलकर स्वराज को जीते हैं।

लगातार परिवर्तन की चेतना को जगाते रहते हैं। वे विद्यार्थियों को क्या करना है? इसका निर्देश मात्र नहीं देते बल्कि खुद करने के लिए उद्यत रहते हैं। ऐसे अध्यापक ही शिक्षा के सही अर्थ को साकार कर सकते हैं।

चितरंजनदास द्वारा अपने उत्तर-बुनियादी स्कूल की सफलता और विफलता का जो आख्यान प्रस्तुत किया गया वह स्पष्ट करता है कि आजाद भारत का शिक्षित और नौकरीपेशा वर्ग गांव, गरीबी और निरक्षरता को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में इस्तेमाल करता है। ऐसी दशा में हम साक्षरता द्वारा गांव के गरीब को ऊपर उठाने वाला ज्ञान देने की बात करते हैं। जबकि बुनियादी शिक्षा और चितरंजन दास का प्रयोग उन्हें स्वतंत्रता और स्वावलंबन के लिए प्रेरित करता है। हमें समझना होगा कि गरीबी के नाम पर ज्ञान को रोजगार का अर्थ देना पर्याप्त नहीं है। हमें शिक्षक और शिक्षार्थियों की 'आत्मा' की आवश्यकता और उनकी सृजन करने की क्षमता की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति उद्योग, प्रकृति और समुदाय के समवाय से संबंधित है। रोजमर्रा के जीवन में सत्य, अहिंसा और समानता के अभ्यास से है। इसके लिए हमें विकास की संकल्पना को वर्चस्व करने की प्रवृत्ति से अलग करके देखना होगा। इसके बिना शिक्षा अपने लक्ष्य को साकार नहीं कर सकती है। ◆

लेखक परिचय : सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

संपर्क : 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

संदर्भ

1. चितरंजन दास 2007; ''लेटर्स फ्रोम अ फॉरेस्ट स्कूल'', नई दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट, पृष्ठ-14 और 152
2. वही, पृष्ठ-152
3. वही, पृष्ठ-15
4. वही, पृष्ठ-29
5. चितरंजन दास (2007); लेटर्स फ्रोम अ फॉरेस्ट स्कूल। नई दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट।
6. चितरंजन दास (2007); लेटर्स फ्रोम अ फॉरेस्ट स्कूल। नई दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट।

आशा के स्रोतों की तलाश

पल्लव

बाल साहित्य में नया क्या हो रहा है इसे देखना जितना रोचक है उतना ही आश्वस्त करने वाला और चिंता में डालने वाला भी। इस विरोधाभाषी कथन का मुख्य कारण है बाल साहित्य का सामान्य पाठकों के लिए सुलभ न होना और महंगा होना। यह अवश्य आश्वस्तिप्रद है कि बाल साहित्य के लिए समर्पित एकलव्य और एकतारा जैसे प्रकाशन संस्थानों ने लगातार श्रेष्ठ किताबों से साहित्य के इस इलाके को रोशन रखा है। कहानी कहना और सुनना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बच्चों के लिए कहानी केवल मनोरंजन का काम नहीं करती बल्कि उन में उत्सुकता जगाने और उन्हें सवाल करना भी सिखाती है। शिक्षा के संदर्भ में अब विशेषज्ञ मानते हैं कि उपदेश तथा सीख देने वाली रचनाओं से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण वे रचनाएं हैं जो जीवन को देखने-जानने के स्वस्थ नजरिये का विकास करती हों। भूलना नहीं चाहिए कि जब हम 'बड़ों के साहित्य' में शिक्षाप्रद होने या सीख देने जैसी बातों का आग्रह नहीं करते तो बच्चों के साथ यह ज्यादती क्यों? इस संबंध में नए लिखे जा रहे बाल साहित्य के साथ-साथ क्या पुराने साहित्य मसलन लोककथाओं की भी कोई भूमिका हो सकती है? इस पर विचार करना चाहिए। लोककथाओं के संबंध में हम सब पहली बात यह जानते हैं कि उनमें जीवन सत्य जिस मनोरंजक ढंग से आते हैं वैसा साहित्य के और तरीकों में हमेशा नहीं होता। इसका कारण है कि इनके रचयिता कोई एक या दो व्यक्ति नहीं होते बल्कि इन्हें सामूहिक चित्त की लोक अभिव्यक्ति कहना चाहिए।

'चकमक' जैसी पत्रिका निकालने वाले एकलव्य संस्थान ने 'माड़ की लोककथा' नाम से छह पुस्तकों की शृंखला प्रकाशित की है जिसमें छह कहानियों का प्रकाशन किया गया है। इन सभी छह कहानियों का पुनःसृजन प्रभात ने किया है। ध्यान देने की बात है कि यह पुनर्लेखन या प्रस्तुति नहीं अपितु पुनःसृजन है। यहां एक सवाल पैदा होता है कि जो लोककथा सालों से समाज में प्रचलित है उसे कोई एक व्यक्ति दुबारा लिख दे तो क्या उसे लेखक के रूप में श्रेय मिलना चाहिए। इस संबंध में पहले बिज्जी का प्रसंग याद आता है जब 'बातां री फुलवारी' के दूसरे संस्करण में उन्होंने 'कदीमी लोककथावां' का कॉपीराइट अपने नाम लिख दिया था। दूसरा प्रसंग और पुराना है जब वाल्मीकि रामायण को तुलसीदास ने रामचरित मानस के नाम से अपनी भाषा (भाखा) में लिखा था। तो बात इतनी-सी है कि लोक साहित्य के पुनःसृजन और पुनर्लेखन में लेखक का पक्ष देखे-जाने बिना उसे कटघरे में खड़ा कर देना अनुचित है। यहां जिन लोककथाओं को प्रभात ने प्रस्तुत किया है उनमें वे अपनी तरफ से इतना जोड़ते चलते हैं कि इन्हें आज के दौर में लिखी गई 'लोककथा जैसी कहानी' भी कह सकते हैं।

प्रभात द्वारा तैयार पहली किताब है- 'कमेड़ी का गीत', जिसमें एक चिड़िया की कथा है जो अपने बच्चों के लिए चुग्गे की तलाश में बगीचे में जाती है जहां उसे बगीचे का माली पकड़कर बेल से बांध देता है। कमेड़ी रोती है, गिड़गिड़ाती है कि मेरे बच्चे इंतजार कर रहे हैं, जाने दो। लेकिन वह नहीं पसीजता। वह गीत गा-गाकर राह में जाने वालों को अपनी तकलीफ सुनाती है, सुनते सब हैं लेकिन कोई नहीं रुकता। न रैबारी और न पनिहारिनें। आखिर चूहों को उस पर दया आती है और वह मुक्त होकर अपने बच्चों तक पहुँचती है। यह गीत पढ़ना चाहिए -

ओ ऊंटों के लश्कर वाले मेरे बीर
नदिया किनारे मेरे बच्चे रे बीर
आंधी आएगी उड़ जाएंगे रे बीर
मेह आएगा बह जाएंगे रे बीर

पूरी कहानी जिस संवेदना का निर्माण करती है वह अप्रतिम है। जाहिर है लोक का हर्ष और दुःख, दोनों जब भी प्रकट होते हैं उनमें एक आदमी का हर्ष या दुःख नहीं होता।

दूसरी किताब 'सारस और सियार' है तो सियार की चतुराई और काइंयापन की कथा, किन्तु प्रभात उसे नए ढंग से व्याख्यायित कर हमारे समय की कहानी बना देते हैं। बात इतनी-सी है कि एक सियार और एक सारस में दोस्ती हो जाती है। सियार अपनी जायदाद सारस को दिखाता है जिसमें गुफा, झील और पहाड़ तक को अपनी निजी जायदाद बताता है। सारस उसे अपनी सम्पत्ति कैसे दिखाए? तो वह सियार को अपनी टांगों पर लटकाकर आकाश में ले जाता है। सियार पूछता है तुहारा हिस्सा कहां है? जवाब देखिये- 'मेरा हिस्सा कहीं नहीं है। यहां हिस्सों के लिए कोई जगह ही नहीं। हिस्से हैं ही नहीं। यहां पूरा का पूरा सबका है।' सबका सुनकर सियार सोचता है कि मैं अपना हिस्सा ले लूं। वह तुरंत तारबंदी कर देना चाहता है। जैसे ही इसके लिए सारस के पांव छोड़ता है धड़ाम से गिरता है। मूल कथा इतनी ही रही होगी। आगे प्रभात का नवाचार देख सकते हैं। वह दलदल में गिरा और एक चरवाहा उसे बचाता है। असल बात है सार्वजनिक और निजी सम्पत्ति की। हमारे जैसे बड़े और विशाल आबादी वाले देश में यह सवाल मुश्किल वाला है। लोग सार्वजानिक सम्पत्ति के नुकसान की परवाह नहीं करते या उसे अपना बनाने में लगे रहते हैं। ऐसे में क्या यह जरूरी नहीं कि सार्वजनिक का ऐसा उदार और व्यापक आश्यों वाला अर्थ दिया जाए, जैसा प्रभात ने दिया है। संकीर्णता केवल सम्पत्ति के मामलों में नहीं होती संबंधों में भी होती है। बच्चे ऐसे मामलों में बहुत परेशान होते हैं। 'चिड़िया की भाएली' इसी मिजाज की लोककथा है जहां एक तुनकमिजाजी और काइंया चुहिया अपनी भाएली (सखी) चिड़िया के सभी उपकारों को भूलकर हमेशा उस पर हेंकड़ी जमाती है। उसका दम्भ यहां तक है कि बैलगाड़ी के पहिये के नीचे दबकर मरने से बचाने पर वह चिड़िया से कहती है- 'वो तो पीठ दबवाने के लिए मैं खुद ही पहिए के नीचे आई थी। तू क्यों बीच में फुदकती हुई वहां आई। मैं तो आ ही रही थी।' हम सबने ऐसे अणूते (टेढ़े) लोग देखे हैं। क्या कीजिये इनका? कहानी का समाधान यही है कि फिर भी हमें संग रहना है।

लोककथाओं की दो खूबियां ये होती हैं कि इनमें कथा रस भरपूर मिलता है और आमतौर पर इनमें निर्बल या निर्धन को बलशाली या धनवान के सामने जीतता हुआ बताया जाता है। 'अच्छा मौसी अलविदा' जैसी मजेदार कहानी के अनेक रूप हिंदी की विभिन्न बोलियों में मिल जाएंगे। इसका एक रूप 'वर्तमान साहित्य' के शताब्दी कथा विशेषांक में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने प्रस्तुत किया था जो अवध क्षेत्र में प्रचलित है। यहां भी कथा का मूल वही है बस कुछ पात्र बदल गए हैं। चिड़िया भैंस पर बीट कर देती है तो भैंस भी उस पर गोबर करती है। बिल्ली गोबर में चिड़िया देखकर खुश हो जाती है लेकिन चिड़िया हिम्मत नहीं हारती। वह बिल्ली को मौसी कहकर खुद को धोने के लिए तैयार करती

है। बिल्ली उसे तालाब में ले जाकर धोती और सुखाती है। सूखते ही चिड़िया फुर्र हो जाती है। मजे-मजे की इस कहानी में हौंसले की बात बारीकी से आई है जो उपदेशपरक होते हुए भी उपदेशपरक नहीं लगती। शेष दो किताबें कल्पना की असीमित उड़ान का आनंद देने वाली कथाएं हैं। 'अंडे से निकला बछेरा तो झोंपड़ी से टपका' में ऐसे आदमी की कथा है जिसे घोड़े के अंडे चाहिए। भला ये कैसे मिलते। उसे एक व्यापारी कद्दू को घोड़े का अंडा कहकर बेच देता है। अब आदमी को इंतजार है कि इसमें से घोड़ा निकलेगा। गलतफहमियों और मूर्खताओं से भरी इस कहानी में सियार, शेर और बंदर भी आते हैं। ऐसी ही गप्प की मजेदार कथा है 'सियार और मोर', जिसमें तेज भूख लगने पर सियार अपने दोस्त मोर के हिस्से की दाल-बाटी भी खा जाता है और यहीं नहीं रूकता, वह क्रमशः मोर, बुढ़िया, बछड़ा, भालू, हाथी और शेर सबको खा जाता है। आगे नदी आती है तो वह नदी का सारा पानी भी पी जाता है और तभी उसका पेट फट जाता है। अब बताइये कौन-कौन निकला? इस मजेदार कहानी को एक कविता के मार्फत प्रभात बढ़ाते हैं जिसकी पंक्तियां हर खाने के बाद एक-एककर बढ़ती जाती हैं।

प्रभात का यह काम महत्त्वपूर्ण है और किताबों को सुनीता, मयूख घोष और नीलेश गहलोत ने अपने बहुत सुंदर चित्रों से सजाकर न भूलने लायक बना दिया है। लोककथाओं का ऐसा पुनःसृजन जिसमें समर्थ भाषा हो, नया मुहावरा हो, नये प्रसंगों की उद्भावना हो और जिनका लक्ष्य संवादधर्मिता हो वह काम महत्त्वपूर्ण ही माना जाएगा।

एकतारा के इम्प्रिंट जुगनू प्रकाशन की बड़ी सफलता इस बात में भी है कि इन्होंने हिंदी के श्रेष्ठ लेखकों को बच्चों के लिए लिखने के लिए तैयार कर लिया। इनकी अधिकांश किताबों को इस भावभूमि पर निर्मित किया गया है कि वे बच्चों को शिक्षा या उपदेश देने वाली पोथियों के स्थान पर नन्हें नागरिकों से संवाद करने वाली और उन्हें बड़े सवालों के लिए तैयार करने वाली रोचक किताबें बनें। एकतारा के सहयोगी लोगों में स्वयं प्रकाश, असगर वजाहत, विनोद कुमार शुक्ल, प्रियम्वद जैसे जाने माने लेखक हैं तो विदेशी श्रेष्ठ बाल साहित्य का अनुवाद भी इन पुस्तकों में शामिल है। असगर वजाहत की छोटी-छोटी कहानियों (या संवादों) की पुस्तक 'रानू मैं क्या जानूं?' स्वयं प्रकाश की 'हांजी नाजी' और 'सप्पू के दोस्त' यहां उल्लेखनीय हैं। स्वयं प्रकाश की कहानियां 'सप्पू के दोस्त' खास तरह के नास्टेल्जिया के साथ जीवन के यथार्थ को मजे मजे में देखने की कवायद है। इस शृंखला की उनकी पहली किताब 'प्यारे भाई रामसहाय' नेशनल बुक ट्रस्ट से आई थी और उसे साहित्य अकादेमी ने बाल साहित्य सम्मान के लिए भी चुना था। स्वयं प्रकाश अपनी इन कहानियों तक आते-आते अपना कथा-कौशल उस ऊंचाई तक ले गए हैं जहां कहानी के पाठकों में बड़े-छोटे का भेद खत्म हो जाता है। ऐसा हमने प्रेमचंद के यहां देखा था। 'इम्मी' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है जिसमें कहानी की शुरुआत एक शोक प्रसंग से होती है। बच्चे अपने दोस्त इम्मी के पिताजी की मौत पर बैठने जाते हैं तो एक मजेदार प्रसंग होता है कि इम्मी उन्हें अपने आंगन में लगे अमरुद के पेड़ पर चढ़कर अमरुद खाने के लिए खुद कहता है। इम्मी फुटबाल का बहुत अच्छा खिलाड़ी है लेकिन अब उसे पिताजी का सब्जी वाला ठेला संभालना होगा। जब बच्चे पूछते हैं कि तू फुटबाल का क्या करेगा? तब इम्मी का जवाब सुनिए- 'फुटबॉल से रोटी नहीं मिलती। समझे? कोई कित्ता ही बड़ा प्लेयर हो जाए...? ये खेल-वेल सब भरे पेट वालों की बातें हैं।' यह समूचा प्रसंग ईदगाह जैसी अमर कहानी की याद दिलाता है जहां एक छोटा-सा बच्चा बुजुर्ग बन गया था। एक और कहानी है 'मजमेवाला', जिसमें ये बच्चे एक मजमेवाले गरीब आदमी की मदद करते हैं लेकिन उसे बचा नहीं पाते। स्वयं प्रकाश उस विडंबना की तरफ इशारा कर रहे हैं कि हमारी सभ्यता में करुणा, उपकार और सेवा जैसे पवित्र भाव क्या खत्म हो जाएंगे? आशा के इस अमर कथाकार ने नॉस्टेलजिया में आशा के उन सभी स्रोतों की तलाश की है और वे स्रोत उन्हें बच्चों में मिले। छोटी-छोटी कुल ग्यारह कहानियों का यह गुलदस्ता स्वयं प्रकाश की अपनी शैली में लिखी गई ऐसी कहानियों से बना है जिनमें बचपन के मीठे और मार्मिक प्रसंग हैं। अभावपूर्ण जीवन के बीच रोमांच की जगह बनाती इन कहानियों में

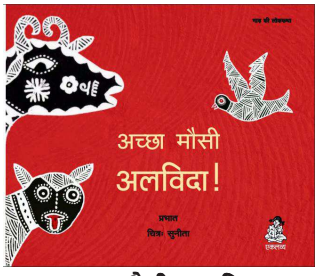

अच्छा मौसी अलविदा
चित्रकार : सुनीता
मूल्य : 40 रुपये

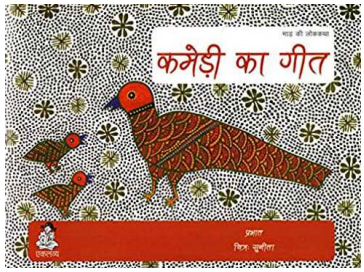

कमेड़ी का गीत
चित्रकार : सुनीता
मूल्य : 50 रुपये

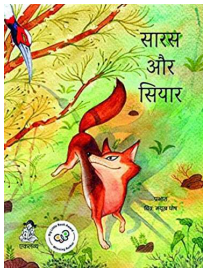

सारस और सियार
चित्रकार : मयुख घोष
मूल्य : 35 रुपये

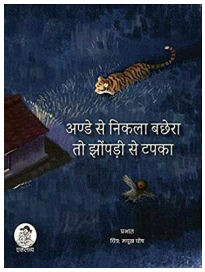

अण्डे से निकला...
चित्रकार : मयुख घोष
मूल्य : 50 रुपये

सभी पुस्तकों के लेखक **प्रभात** हैं और **प्रकाशक** : एकलव्य प्रकाशन, भोपाल, मध्य प्रदेश द्वारा

भारतीय मध्य वर्ग के हार्दिक चित्र भी हैं जब समाज से सामूहिकता और पारस्परिकता के लिए पर्याप्त सम्मान और स्थान बचा हुआ था। इस किताब के चित्र एलन शॉ ने बनाए हैं और अपनी खास शैली में किताब को ऐसे तैयार कर दिया है कि 'मालगुडी डेज' की याद आ जाए।

असगर वजाहत ने हिंदी में लगभग सभी प्रमुख विधाओं में उच्च स्तरीय रचनाएं दी हैं। बच्चों के लिए पहली बार उनकी किताब 'रानू मैं क्या जानूं?' आई है जिसमें रानू के सवाल हैं और पापा के जवाब। असल बात सवालों की ही है क्योंकि जवाब की दिक्क्त केवल रानू के पापा की नहीं हम सबकी है। ये सवाल मासूम हैं लेकिन इन्हें समझने पर पितृसत्ता, धर्मसत्ता और राजसत्ता कठघरे में दिखाई देती हैं। मसलन ईश्वर। रानू का वाजिब सवाल है कि अगर भगवान् सब कुछ जानते हैं तो मांगने पर ही क्यों देते हैं? ऐसी छोटी-छोटी पन्द्रह कहानियों की यह किताब बहुत रोचक ढंग से बुनियादी सवालों को उठाती है। एक जगह जब पापा के पास जवाब नहीं बचते तो देखिये- 'रानू तुम बहस मत करो... हमारा देश महान है... कहो, हमारा देश महान है। नहीं तो अभी तुम्हारे कान मरोड़ता हूं।' असगर वजाहत अपनी सवाल-जवाब शैली में ऐसी कहानियां रचते हैं कि बच्चे बड़ों के कान काटते नजर आते हैं। क्या इन्हें जवाब नहीं मिलने चाहिए? इन्हीं सवालों के जवाब की तलाश में स्वयं प्रकाश की छोटी-सी किताब 'हांजी नाजी' रची गई है जो कभी लतीफों का मजा देती है तो कभी तीखे सवालों से झुंझलाहट पैदा करती है। यही बात है जो ढर्राबद्ध हिंदी बाल साहित्य से इन किताबों को भिन्न और सार्थक बनाती है। हां, दोनों किताबों के चित्र अतनु राय के हैं और बेहद प्रभावशाली बन पड़े हैं।

वस्तुतः कहना चाहिए कि सुशील शुक्ल की सम्पादन दृष्टि और तक्षशिला के इन प्रयोगों ने हिंदी साहित्य के अब तक चले आ रहे उस विभाजन को खत्म किया है जिसके अंतर्गत बच्चों के लिए खास बाल साहित्यकार ही लिखते थे और जिन्हें तथाकथित मुख्य धारा का लेखक माना जाता है वे इस तरफ देखने से भी हिचकते थे। कहना न होगा कि इस विभाजन ने कितना नुकसान किया है। हिंदी साहित्य में ऐसी किताबों के आगमन से बाल साहित्य पर भी गंभीर चर्चा की शुरुआत हो और अधिकाधिक बच्चों तक इनका पहुंचना सम्भव हो तो चिंता की बात से मुक्ति मिले। ◆

लेखक परिचय : दिल्ली के प्रसिद्ध हिन्दू कॉलेज में पढ़ाते हैं और 'बनास जन' नाम से एक लघु पत्रिका का संपादन-प्रकाशन करते हैं।

संपर्क : 8130072004; pallavkidak@gmail.com

R.N.I.No.RAJHIN/1999/0359 शिक्षा विमर्श

यश बाना जवाहर नवोदय विद्यालय पल्लू में कक्षा छह का विद्यार्थी है। यश बहुत ही मेहनती विद्यार्थी है। कोरोना काल में भी अपनी शिक्षा को निरंतर जारी रखते हुए इंटरनेट पर उपलब्ध विभिन्न साधनों से चित्रकारी सीखने का प्रयास करता रहा है। यश 11 वर्ष का है और अपने माता-पिता के साथ हनुमानगढ़ में रहता है।

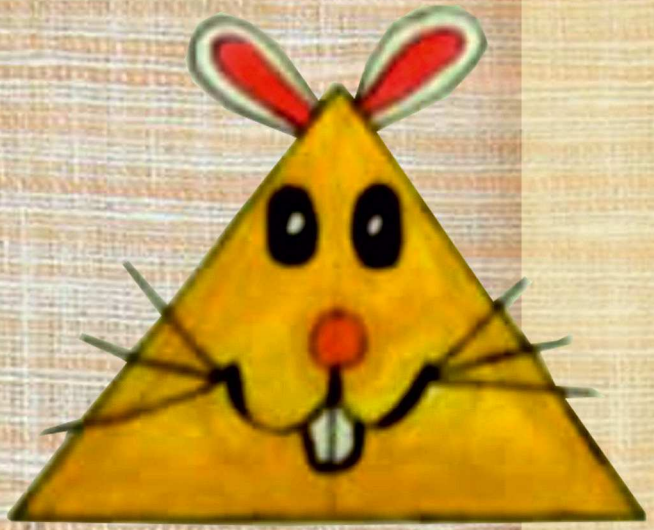

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित